APRIL, 1998



मालिनी
THE MALINI

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. IV NO. 1 ISSUE XII
APRIL, 1998

BIRTHDAY JAYANTI SPECIAL NUMBER



मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
Delhi Chapter
C/o Capt. Kachroo
J-77 Kalkaji, New Delhi - 110 019
Tel. : 6430226

April, 1998
Price : Rs. 20.00

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

	सम्पादक की लेखनी से		4
1.	Śiva Sūtras	*Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja*	6
2.	Śaivism of Kashmir	*Dr. B. N. Pandit*	12
3.	Abhinavagupta : Anubhavanivedana	*Dr. Bettina Bäumer*	17
4.	Obeiscence to Svāmī Ji	*Late Dr. R. K. Kaw*	20
5.	Birthday Felicitation of Svāmī Ji & Gurustuti	*Late Dr. R.K. Kaw*	22
6.	Śrī Śivabhattāraka Rājānaka Lakṣmaṇa Jayastotram	*Sh. D.N. Shastri*	26
7.	Swami Ram Jee a Parama Siddha	*Sh. S.K. Mam*	27
8.	Svāmi Lakṣmaṇa Joo	*Sh. Nath Ji*	32
9.	विज्ञान भैरव – समीक्षात्मक अध्ययन	*स्वामी लक्ष्मण जू महाराज*	35
10.	पारमार्थिक पथ के पथिक	*सुश्री प्रभादेवी*	41
11.	शैवदर्शन के वातायन से	*नीलकंठ गुर्टू*	44
12.	प्रणामाञ्जलिः	*श्री जानकीनाथ कौल 'कमल'*	47
13.	त्रिकदर्शन में भैरव	*प्रो० मखनलाल कुकिलू*	49

संपादक की लेखनी से

सद्गुरु महाराज की ९१वीं जन्मजयन्ती के उपलक्ष्य में मालिनी का प्रस्तुत अंक आज पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मरन्ध्रमें हजार दल कमल निम्नमुख है उसीमें अभय और वर प्रदान करने वाले सोऽहं स्वरूप सद्गुरु निवास करते हैं। सद्गुरु का शुद्ध बुद्धि से मानसिक पूजन तथा श्वासोच्छ्वास द्वारा अजपाजप से सारी सिद्धियाँ साधक को वरने के लिए लालायित रहती हैं। शास्त्रों में निर्देश है कि दिन रात में मनुष्य इक्कीस हजार और छः सौ से अधिक बार श्वास लेता और छोड़ता है और 'हंस' मन्त्र का अजपा जप करता रहता है। कहा भी है कि 'हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः''। इन इक्कीस हजार छः सौ सांसों में से जीव दो हजार श्वास 'सद्गुरु' के लिए लेता है और अन्य शेष श्वास प्रमुख देवों के लिए अलग-अलग संख्या में नियत रूप से लेता है। इस श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया से ही नित्य मानस यज्ञ सम्पन्न होता है जिस का संकेत गीता जी में भी स्पष्ट मिलता है। षट् चक्रों में सद्गुरु का आसन 'सहस्रार' माना जाता है। यही वह आसन है जहां से परमामृत की बूँदें साधक को आप्लावित करती हैं और वह असामान्य स्थिति का धारक बन जाता है। पुराण व धर्म शास्त्रों में कहा है कि मनुष्य के शरीर में सप्तभुवनों का वास है जिन का ध्यान विराट् पुरुष के साक्षात्कार में सहायक होता है और सद्गुरु महाराज ही इसका निमित्त कारण है। नित्य कर्मविधान में सद्गुरु महाराज के लिए मानसिक पूजा का अत्यन्त महत्त्व है और सद्गुरु महाराज के प्रकाश विमर्श रूप चरण कमलों का अमृतमय जल से स्नान कर चरणामृत पान से पुनर्जन्म के झमेले से सदा के लिए मुक्त होना श्रेयस्कर कहा गया है। तंत्रशास्त्रों का उल्लेख है कि मन्त्र दीक्षा वाले साधक सद्गुरु प्रताप से ही मंत्रजाप के अभ्यास में जुट जाते हैं अपने प्रयत्न से नहीं। सामान्य साधकों के लिए भी कहा गया है कि सद्गुरु महाराज की पंचोपचार विधि से (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) पूजा किये बिना दैनिक कर्म का आरम्भ करना निषिद्ध है। एवं भारतीय धर्म साधनाओं की जितनी विभिन्न प्रणालियां है सभी ने सद्गुरु महाराज की अप्रतिम महत्ता को स्वीकारा है। सद्गुरु की महिमा अपार है, इनकी दया दृष्टि से ही शिष्य परमपद का अधिकारी होता है। वह हर पदार्थ में खुद को देखता है और हर स्वरूप में अपना ही स्वरूपदर्शन करता है। वह समस्त विश्व को ''वसुधैव कुटुम्बकमू'' की दृष्टि से देखता है। वह कर्मो के कठोर बन्धन से मुक्त होके जीवन-मरण के चक्र से छूट जाता है। आध्यात्मिक उत्थान के परिणाम स्वरूप उसकी सारी कामनायें अनायास पूर्ण हो जाती हैं और सहगामिनी सिद्धियां विवशता से अनुगमन करती हैं। वह अद्वितीय परामृतवर्षा से सराबोर होके सभी चिन्ताओं से छुटकारा पाकर असीम शांति का अनुभव करता है।

पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पूर्ण सामञ्जस्य प्राप्त करने से अवर्णित आनन्द को पाता है और स्वयं भी दृढ़ एवं पवित्र चरित्र का स्वामी बन जाता है। इस प्रकार सद्गुरु महाराज के चरण कमलों का सततचिन्तन व पूजन जीवन को सफलता की अनछुई ऊँचाइयों तक लेने में समर्थ हो सकता है। आइये ! आज की ९१वीं जन्म जयन्ती पर हम दृढ़ संकल्प करें कि मनसा वाचा, कर्मणा सद्गुरु महाराज की अनन्य सेवा कर के सदा उनका श्रद्धापूर्वक नमन करें और उनसे निर्दिष्ट प्रशस्त पथ के उत्सुक पथिक बनें।

विगतांक प्रकाशन से लेकर आजतक ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के अधिकारियों तथा विभिन्न केन्द्रों के पदाधिकारियों ने ईश्वर-आश्रम का सेवा कार्य जिस अनन्य भाव और लगन से किया वह सराहनीय है। उनमें श्रीनगर आश्रम के अमृतेश्वर-भैरव-मन्दिर के जीर्णशीर्ण परिक्रमा स्थान का नवनिर्माण कार्य तथा सद्गुरु महाराज के प्रमुख भवन का सज्जाकार्य, जम्मू आश्रमभवन के अनेकों कार्य उल्लेखनीय हैं। यहां इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि दिल्ली स्थित ईश्वर-आश्रम केन्द्र को राज्य सरकार से दक्षिण दिल्ली में लगभग एक कनाल जमीन शीघ्र मिलने की संभावना है जिससे सद्गुरु महाराज के न केवल दिल्ली तथा दिल्ली के आस पास रहने वाले प्रदेशों के शिष्य व भक्त ही लाभान्वित होंगे अपितु विदेशों से आने वाले शिष्य व भक्त जनों का भी महान् उपकार होगा। दिल्ली केन्द्र के वे सभी पदाधिकारी प्रशंसा के पात्र हैं जो इस दुष्कर कार्य को साकार बनाने के लिए कटिबद्ध हैं। हमें अनिश्चितता से दूर रहकर अपने इस निश्चय को दृढ़ बनाना चाहिए कि ईश्वर आश्रम सम्बन्धी कोई भी कार्य, जिस किसी स्थान पर, जब कभी सम्पन्न करना हो, अन्य सभी निजीय व्यस्तताओं को छोड़कर सद्गुरु कार्य पूर्ति में जी जान से जुट जाना चाहिए। उसी में हमारा लौकिक व पारलौकिक कल्याण है।

जन्म जयन्ती का विशेष अंक होने के कारण हमने इस अंक में जन्म जयन्ती सम्बन्धित लेखों को ही प्राथमिकता दी। अन्य स्थायी स्तम्भों को इस अंक में प्रकाशित न कर सके। असुविधा के लिए क्षमाप्रार्थी हैं

हम पुनः याद दिलादें कि मुक्त हस्त आर्थिक अनुदान देने वाले दानियों से सविनय निवेदन है कि उनका दिया हुआ आर्थिक अनुदान आयकर सीमा 80-G-1961 के अनुच्छेद के अन्तर्गत आयकर से मुक्त समझा जायेगा।

सारे ईश्वरआश्रम परिवार को सद्गुरु जन्म जयन्ती पर हार्दिक शुभकामनायें।

जय गुरुदेव

वैशाख कृष्णद्वादशी
बृहस्पतिवार
अप्रेल २३.१९९८

प्रो० मखनलाल कुकिलू

ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśini Sanskrit commentary of Śrī Kṣemarāja

IV

Translated by
Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāj

(Continued from last issue)

यदि जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः तत् कथं अयं बन्ध इत्याशङ्का शान्तये संहितया इतरथा च अकार प्रश्लेषाप्रश्लेष पाठतः सूत्रं आह-

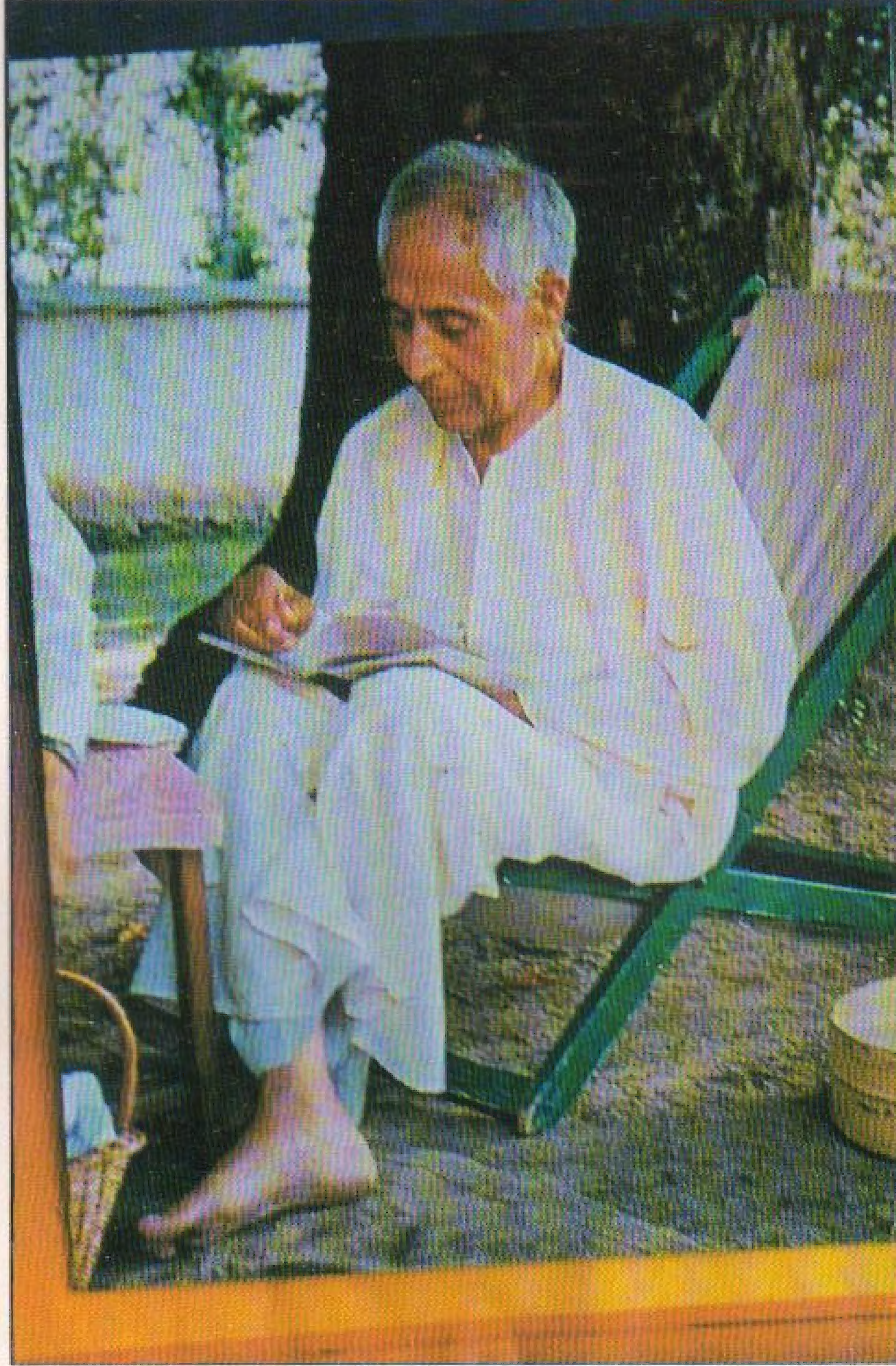
ज्ञानं बन्धः ॥ २॥

यदि – If, जीव जडात्मनो विश्वस्य – the entire universe, consisting of animate and inanimate objects, परमशिवरूपं चैतन्यं एव – supreme God consciousness of परमशिव – Highest Śiva, स्वभावः – the nature, तत् – then, कथं – how is अयं बन्धः – this bondage (to be explained). इत्याशङ्का – this doubt शान्तये – in order to remove, संहितया – by joining the final and initial letters (as per rules of "Sandhi" joining of letters as per Sanskrit grammar) इतरथा – by disjoining (as per Sandhi rule) प्रश्लेष – by joining 'अ', अप्रश्लेष – by disjoining 'अ', पाठतः सूत्रं आह – by this method, Kṣemarāja explains that this sūtras is to be read in two ways -

1. चैतन्यमात्माज्ञानं बन्धः - चैतन्यं आत्मा - अज्ञानं बन्धः 2. ज्ञानं बन्धः। अज्ञानं – ignorance of one's real nature is a kind of limited knowledge, is बन्धः - the cause of bondage. ज्ञानं बन्धः – Limited knowledge is bondage i.e. differentiated knowledge is bondage and not knowing your self— differentiated self, also is bondage. When you know in a differentiated way that is bondage. When you know not in a differentiated way that is also bondage.

If the entire universe, consisting of animate and inanimate objects is in the nature of Supreme God-consciousness of Param Śiva, then how is this bondage to be explained. In order to remove this doubt the author explains the next sūtra "ज्ञानं बन्धः" in two ways. 1. By joining last vowel of the previous sūtra with the initial word of next sūtra i.e. "अज्ञानं बन्धः" and 2. By disjoining the previous sūtra and standing second sūtra

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

separately as "ज्ञानं बन्धः"। Thus by this process of uniting and separating the letter "अ" the meaining of the sūtra is explained as under :-

अज्ञानं बन्धः – not knowing your differntiated self is bondage and

ज्ञानं बन्धः – knowing your differentiated self is also bondage.

इह उक्तयुक्त्या चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किंचिद उपपद्यते इति मलस्यापि का सत्ता कीदृग् वा तत् निरोधकत्वं स्यात् इति भेदवादोक्त प्रक्रिया परिहारेण

मलं अज्ञानं इच्छन्ति संसारांकुर कारणम्॥ इति।
अज्ञानात् बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।

इति श्रीमालिनीविजय श्रीसर्वाचारोक्त स्थित्या यः परमेश्वरेण स्व स्वातन्त्र्य शक्त्याभासित स्वरूप गोपना रूपया महामायाशक्त्या स्वात्मनि आकाशकल्पे अनाश्रितात्प्रभृति माया प्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञान स्वभावोऽपूर्णमन्यतात्मक आणवमल सतत्त्व संकुचित ज्ञानात्मा बन्धः।

इह उक्तयुक्त्या – by the aforesaid argument

चित्प्रकाश व्यतिरिक्तं – separate from the light of consciousnes; न किंचित् उपपद्यते – there is nothing worth existing, मलस्यापि का सत्ता – then Mala also does not exist, कीदृग् वा तन्निरोधकत्वं स्यात् – how can that Mala come and put obstacles and bondage before you. इति भेदवादोक्त प्रक्रिया परिहारेण – by rejecting the way of the dualists (भेदवाद) इति श्रीमालिनीविजय उक्तस्थित्या – this according to Mālinīvijaya - मलं अज्ञानं इच्छन्ति –'Mala' is said nothing but ignorance of one's real nature, संसाराङ्कुर-कारणं – this 'Mala' is the cause of samsāra.

श्री सर्वाचारोक्त स्थित्या – as is said in "सर्वाचार" also

अज्ञानात् बध्यते लोकः – People are bound by अज्ञान – ignorance, ततः – because of that सृष्टिः – birth च – and संहृतिः – deaths occur स्व स्वातन्त्र्य शक्त्या – by his energy of freedom, महामायाशक्त्या – great power of illusion has arisen, आभासितस्वरूप गोपनारूपया – he tries to conceal his nature in the way of play or for the pleasure. स्वात्मनि – in his very self, आकाशकल्पे – which has only vacuum full of conciousness, अनाश्रितात्प्रभृति – from अनाश्रित Śiva etc. मायाप्रमात्र्यन्तं – down to Maya Pramātā — a limited जीव, संकोचः – a limitation is अवभासितः – made to appear, यः परमेश्वरेण – by the

Highest Lord, स एव – that very limitation is, बन्धः – bondage, शिवाभेद – non-difference from Śiva or not knowing Śiva, अख्यातात्मकाज्ञान स्वभावः – not knowing—ignorance of oneness of Siva, and that bondage is just when अपूर्णंमन्यतात्मक – you feel yourself incomplete, आणवमलसतत्त्व – of the nature of limited knowledge in the form of आणवमल, संकुचित ज्ञानात्मा – which makes one consider as thoroughly reduced in respect of knowledge and action.

By the aforesaid argument there is nothing worth existing separate from the light of consciousness. How can 'mala' come and put obstacles and bondage before you when that 'mala' also does not exist. By rejecting the way of the dualists 'Mālinīvijaya' says that 'Mala' is said nothing but ignorance of one's real nature. This Mala is the cause of Saṁsāra According to सर्वाचार also people are bound by ignorance and because of that they get births and deaths. Great power of illusion has arisen by his power of absolute freedom. He tries to conceal his nature just in the way of play or just for the pleasure that contraction or limitation he reveals where in his very self which has only vacuum full of consciousness. The contraction or limitation shown from अनाश्रित Śiva to माया प्रमाता (limited जीव) is called bondage. That limitation is not knowing परमेश्वरः, not knwoing ignorance of oneness of Śiva and that bondage is just when you feel yourself incomplete and that is आणवमलः। That knowledge of differentiated self and ignorance of undifferentiated self both are bondage. Bondage is attached with being. This bondage has not come from another department or agency. It is your own free will that you have put bondage in your own nature.

यथा च व्यतिरिक्तस्य मलस्य अनुपपन्नत्वं तथा अस्माभिः श्री स्वच्छन्दोद्योतेपञ्चम पटलान्ते दीक्षाविचारे वितत्य दर्शितम्। एष च सूत्रार्थः

निजशुद्ध्या समर्थस्य .....

इति कारिका भागेन संगृहीतः। एवं आत्मनि अनात्मता अभिमानरूपा अख्यातिलक्षणा ज्ञानात्मकं ज्ञानं न केवलं बन्धः यावत् अनात्मनि शरीरादौ आत्मता अभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानं अपि बन्ध एव। एतत् च

परामृतरसापाय .....

इति कारिकया संगृहीतम्।

यथा व्यतिरिक्तस्य मलस्य – Just 'Mala' as something different from consciousness, अनुपपन्नत्वं – cannot be proved, तथा – that, अस्माभिः दर्शितम् – has been explained by me. वितत्य – vividly or at great length, पञ्चमपटलान्ते – at the end of 5th chapter श्रीस्वच्छन्दोद्योते – in my commentary namely उद्योत (Udyota) on Svacchanda Tantra, दीक्षाविचारे – while discussing initiation : एष च सूत्रार्थः – the crux of above sūtra इति कारिकाभागेन संगृहीतः – has been explained in the following verse of Spandakārikā -

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य ....when you become worthless of anything or incapable of doing any thing, by your own free will.

(Full कारिका is as under :-

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदाक्षोभः प्रलीयेत् तदा स्यात् परमं पदम्।। (स्पन्दकारिका I-19)

By your inborn impurities i.e. āṇava, māyīya and kārma mala, you are incapacitated and are attached to various actions. When the agitation (क्षोभः) or restless condition of nonfulfillment of numberless desires ceases than the highest state will come into being).

एवं आत्मनि – thus in your nature अनात्मता अभिमानरूपा अख्याति लक्षणा ज्ञानात्मकं ज्ञानं – when you put this knowledge that I am not universal self, न केवलं बन्धः – is not the only cause of bondage but, यावत् अनात्मनि शरीरादौ – when in your पुर्यष्टक body etc. आत्मता अभिमानात्मकं अज्ञानमूलं ज्ञानं अपि बन्ध एव – you put ego due to that ignorance of limited knowledge, that too is bondage. This is आणवमल in two ways. एतत् च – this idea has been इति कारिकया संगृहीतम् – explained in the following verse of Spandakārikā परामृतरसापायः ....

(Full कारिका is as under :-

परामृतरसापायः तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेन अस्वतन्त्रतां एति स च तन्मात्रगोचरः।। (स्पन्दकारिका III-14)

The bliss of supreme immortality is carried away when the origination of cognitions takes place through quick and slow operations in general in the sphere of different objects of knowledge. By that he loses his own independence. That origination has its object in sense objects i.e. sphere of tanmātrās i.e. sound, colour, form, taste, etc and the pleasures got from them.)

How cognition is the bondage, Svāmi Jī Māharāj has quoted the following verse of Madālasā—

तातेति किंचित् तनयेति किंचित्
अम्बेति किंचित् दयितेति किंचित्।
ममेति किंचित् न ममेति किंचित्
भौतं संघं बहुधा मा लपेथाः॥

Meaning=Do not indulge too much in your association with the materiality by references to father, child, mother, beloved, mine and not mine". By this limited cognitive power you are put to troubles.

While explaining initiation in my commentary on Svacchanda Tantra at the end of the 5th chapter, I have discussed at great length that 'Mala' as different from consciousness cannot be proved. The same has been expressed in Spandakārikā wherein it is stated that empirical self is reduced to incompleteness on account of inborn limiting conditions etc. Thus when you put this knowledge in your nature that I am not universal self, that is bondage. When you put ego in your body that too is bondage. This idea has been explained in a verse of Spandakārikā, wherein it is said that the bliss of supreme nectar is being carried away when the origination of cognition takes place etc.

एवं चैतन्यशब्देन उक्तं यत् किंचित् स्वातन्त्र्यात्मकं रूपं; तत्र चिदात्मन्यपि स्वातन्त्र्याप्रथात्मविज्ञानाकलवत् अपूर्णम्मन्यता मात्रात्मना रूपेण; स्वातन्त्र्येऽपि देहादौ अबोधरूपेण अनात्मन्यात्मताभिमानात्मना रूपेण; द्विप्रकारं आणवमलं अनेन सूत्रेण सूत्रितम्। तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्–

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥
इति॥ २॥

एवं चैतन्यशब्देन उक्तं – In the previous sūtra namely'चैतन्यं आत्मा' it has been said that, यत् किंचित् स्वातन्त्र्यात्मकं रूपं – Caitanya (चैतन्य) means स्वातन्त्र्य (Svātantrya) i.e. absolute freedom to know and do everything. तत्र चिदात्मन्यपि – now in respect of this it there he only Jñāna, स्वातन्त्र्याप्रथात्म– without sVāntantrya i.e. without I-consciousness, अपूर्णम्मन्यतामात्रात्मनारूपेण

— which leads one to think oneself incomplete, विज्ञानाकलवत् — as in the case of Vijñānākala. This is one way of आणवमल। स्वातन्त्र्येऽपि — even if there is स्वातन्त्र्य in the form of doership (Kartṛtva) but अबोधरूपेण — full of ignorance. अनात्मन्यात्मताभिमानात्मना रूपेण — leading to think the not-self like the body etc. as the self. This is also आणवमलः। द्विप्रकारं — of two types, आणवमलं — Āṇavamala, अनेनसूत्रेण — by this second sūtra namely 'ज्ञानं बन्ध' सूत्रितम् — pointed out. तदुक्तं — as has been said श्रीप्रत्यभिज्ञायां — in Īśvara - pratyabhijñā स्वातन्त्र्य हानिः बोधस्य — sometimes there is no freedom in the state of your consciousness. This is आणवमलः। स्वातन्त्र्यस्याप्य बोधता — if you find Svātantrya but you will not find the way you were finding the universal consciousness in Samādhi. This is also Āṇavamala. द्विधाणवं मलं इदं — this way Āṇavamala is said to be two-fold - one is स्वातन्त्र्य हानिः second is अबोधता। i.e. sometimes there is no freedom and sometimes there is no awareness. स्वस्वरूप — the real nature is अपहानितः — this way taken away from you.

Svāmījī Maharāj explains that although you realize the nature of consciousness or that you are always aware, but you feel that this consciousness is only upto the end of Smādhi i.e. to say when Samādhi is over this consciousness also is over. This is one way of Āṇavamala. If you are free in coming out of Samādhi to external world but in that also you leave the consciousness of your own nature, you have to return to internal world again. This is another way of Āṇavamala. This is also bondage. Thus Āṇavamala pervades in two worlds namely in external world and internal world. As has been said in Śrī Pratyabhijñā that sometimes there is no freedom in the state of your consciousness. The state of consciousness has come of her own accord not by your will. This is स्वातन्त्र्य हानिः. This is Āṇavamala. If you find Svatantrya but you will not find the way you were finding the universal consciousness in Samādhi. This is also आणवमल. Sometimes there is no freedom and sometimes there is no awareness. This way the real nature is taken away from you. This way Āṇavamala is said to be two-fold.

(To be continued)



The Śaivism of Kashmir

Dr. B.N. Pandit

Though basically pre-Aryan and pre-Vedic in its origin, Śaivism crept by stages into the Vedic religion and became one of the most vital elements of Hinduism by the age of Epics and Purāṇas.

Though the Vedic rituals of the ancient Hindus of Kashmir had been predominantly Vaiṣṇavite in character, the worship of Śiva and Śakti also had become very popular in this land right from the prehistoric ages. There is even now a good number of prehistoric Śaiva shrines in Kashmir, for instance, Amareśvara, Vijayeśvara, Sureśvara, Harśeśvara, Mahādeva, Bhūteśvara, Haramukheśvara etc. Saivism has always and everywhere been Śāktic in character. Therefore there are many prehistoric shrines dedicated to Śakti, the Universal Mother Goddess. The most important among these are: *Tripurasundarī* in Kulgam, *Trisandhyā* in Anantnag, *Jvālāmukhī* in Trāl; *Śārikā* at Srinagar, *Śāradā* in Teetwal, *Rājnī* in Ganderbal, *Śailaputrī* at Baramulla and so on.

It appears that ancient Naga tribes may have inhabited the borders of the valley when it was a lake. Later, when it was cleared of water by Kaśyapa and was colonized by Indo-Aryans under his leadership, hordes of *Piśāca* and *Darda* tribes, belonging to some less civilized and partly barbaric Aryan stock, invaded the valley from the north. The *Nāga* leaders mediated between the Indo-Aryan settlers and these *Piśāca* invaders and both the tribes came to terms and settled in the valley. This is the historical conclusion that can be drawn from the accounts of ancient Kashmir as given in the *Nilamata Purāṇa*. Those *Nāgas* may have, most probably, been Śaivas by faith and their influence on these settlers in Kashmir may have been one of the chief causes of the predominance of the worship of Śiva and Śakti in Kashmir in the most ancient times. The dominating popularity of Śiva and Śakti can have been imported to ancient Kashmir by *Khashas* of Kishtawar and Chamba who must have colonized the valley and who can have given it the name "Khashameru" which can have changed into the word Kashmir.

The religious beliefs of that most ancient Śaivism are mostly mythological in character. Śiva is the greatest of all gods and his abode is a

superior heaven called Śivaloka. He, however, resides along with his spouse, Pārvatī, on the Kailāsa also. He is present at all the sacred places dedicated to him and is always ready to help his devotees in all respects at all places. He grants them boons for worldly and heavenly attainments and exercises his grace on them to liberate them from their ignorance and consequent transmigration. When liberated, they get access to his divine abode and enjoy an eternal bliss in his constant vicinity. Pārvatī is his constant companion and is always worshipped with him. *Bhairavas* and *Gaṇas* are his divine assistants and are often worshipped on important festivals like *Śivarātri*. The modes of worship are generally the same as those of all other types of idol worship, the only main difference being in the sacrificial offerings. Preparations of *bhang*, meat, fish, etc., and even wine are very often offered to these *Bhairavas* and sometimes to Śiva and Pāravatī also. Beasts are sometimes sacrificed to them. This ancient Śaivism in Kashmir is nearly the same as that prevalent in all other parts of India.

The Śaivism for which Kashmir is spacially famous is the monistic Śaiva philosophy of the Tryambaka school and that philosophy is the most valuable contribution of Kashmir to Indian culture. That philosophy had basically originated in some trans-Himalayan area near Kailāsa in about the 4th century A.D. Its advent to Kashmir took place in the 8th century and it developed fully in the next two centuries in that very land.

The most ancient school of Śaivism is *Pāśupatism* which rose out of the beliefs of the Indus Valley people and spread in course of time as a disipline of some orders of Śaiva monks in the whole country in the early centuries of the Christian era. It is a pluralistic school of thought believing in mutually distinct existence of God, soul and matter. Its practice consists of a very austere and severe discipline inviting public contempt. *Kāpālikas* living in cremation grounds are an advanced type of *Pāśupatas*. Their discipline, in the words of Abhinavagupta, is full of torturing practices:

"दक्षिणं रौद्रकर्माढ्यम्"
"Dakṣiṇaṃ raudrakarmāḍhyam." (T.A. 37-27)

Śaivasiddhānta, a popular faith in Tamil Nadu, claims prehistoric origin in some ancient *āgamas* named "Nānmurai" which, according to

tradition, were swallowed up by the ocean in a flood, along with the sages who possessed them and the mountain peaks where they lived. Another tradition maintains that some saints of a Śaiva school established at Mantra Kāleśvara temple on Godāvarī, by some teachers in the lines of Amardaka and other were invited to far South by a Chola king named Rajendra, and they preached there the *Śaivasiddhānta*. The third and the more authentic source of the Siddhānta sect lies in some Sanskrit Śaiva *āgamas* belonging to the early centuries of the Christian era. The fundamental theory of *Śaivasiddhānta* is a kind of dualism, or rather pluralism. Though *Yoga* and *Jñāna* have been accepted in it as the highest means of liberation, yet more importance has been given in actual practice to devotional and ritualistic worship of Śiva in temples, *Śaivasiddhānta* is in the opinion of Abhinavagupta, overburdened with ritual:

"सिद्धान्ते कर्म बहुलम्।"

"Siddhānte Karmabahulam" (T.A. 37-27)

Another sect of Śaivism, which also is a popular faith of masses, is the *Vīra-śaivism* of Karṇāṭaka. Though a special type of qualified monism, it lays greater stress on unity and terms its theory as *Sāmarasyavāda*. The sect developed in its persent form in the twelfth century, but the tradition of its practice is sufficiently ancient. It must have existed as a special system of discipline among some ancient orders of Śaiva monks. It also is sufficiently ritualistic in character in its practice. The Vedāntic Śaivism of Śrīkaṇṭha professes *pariṇāma-vāda*) which maintains that the divine power of God gets transformed into the phenomenal existence. It resembles *viśiṣṭādvaita* of Rāmānuja.

Kashmir Śaivism is a philosophy which is quite different in many respects from all these schools of Śaivism of the South. It adopts a pragmatic approach towards all the problems of philosophy on both its sides of theory and practice.

It is neither rigidly idealistic like the Advaita Vedānta and Buddhism, nor so realistic as the Nyāya-Vaiśeṣika or Sāṃkhya. The universe, according to it, is neither like a mirage, nor like the child of a barren woman. It is a reality for all practical purposes. But it is not an absolute reality, because it is a creation. It exists in the absolute reality in the form of pure, limitless and all containing consciousness. That consciousness,

called *Parama-Śiva*, is always vibrating inwardly and outwardly by its basic nature and its vibrative nature is called *Spanda*. *Spanda* is a sort of a stir of consciousness. The phenomenal universe, which exists in *Parama-Śiva* in the form of pure consciousness, appears, by stages, in its phenomenal aspect in the manner of a reflection appearing in a mirror. A mirror bears the reflection of outward objects, but the mirror of pure consciousness bears the reflections of its own powers. Siva's powers to create, to preserve and to absorb the universe and also to conceal as well as to reveal His nature of absolute Godhead get manifested at His playful, independent and unrestrictible will and that will is the essence of His Godhead. Had He not possessed such nature, He would not have been God. He may have or may not have existed at all in that case, because His existence could neither have been challenged nor established by any one. Universe is nothing but an objective manifestation of His divine powers. He is a reality and His powers are his essence. Therefore His powers are also a reality and so are the manifestations of those powers a reality. He consists of an ever-pure and limitless consciousness which is full upto brim with Godly powers and does not undergo any change even while the activities of creation, etc. are going on. This is His static aspect in which he is called Śiva. The aspect of the manifestations of His Godhead is called His Śakti. Both are merely two aspects of one and the same absolute, all powerful and independent reality. This interpretation of the Hindu monism is the new thought contributed to Indian philosophy by the Śaiva philosophers of Kashmir. It can be termed as Hindu pantheism, though it is much different from the pantheism of the Western and the Vaiṣṇavite thinkers; because Śiva in it is an absolute and abstract reality, rather than a personal God and can be realised in His highest aspect as the pure and potent consciousness transcending all phenomena of gross and subtle character.

Kashmir Śaivism accepts no restrictions based on caste, creed, sex, etc. Every curious and devout aspirant can have access to it both theoretically and practically. It gives more importance to practice than to bookish knowledge and logical discussions. In its theory it comes closer to the theism of Bhagavadgītā and not to the nihilism of Nāgārjuna. In practice it does not prescribe the 'profession' of monks but advises to live the life of a householder and to practise, side by side, Śaiva yoga for the sake of

self-realisation. It does not advocate *sannyāsahood*. It prohibits the use of all sorts of saintly symbols like red or white robes, matted hair, ashes, etc. It avoids suppression of one's emotions and instincts and advocates a path of their sublimation. It does not ignore the worldly and heavenly aims of life consisting of objective enjoyments. It rather advocates a path aimed at both *bhukti* (enjoyment) and *mukti* (liberation), both of which can be pursued side by side. It lays emphasis on devotion and that makes its practice quite sweet and practicable. It is, in this way, quite pragmatic in its approach towards its practice also.

These Śaiva philosophers did not at all try to disturb the age old religion of the masses. They advocated the practice of the then established Brahmanic Hinduism based on *Vedas*, *Smṛtis* and tradition. They also advocated the practice of Śiva worship in temples, at sacred places and in homes. In addition to these outward aspects of religion, they preached the practice of Śiva-yoga in accordance with the *Trika* and *Kula* systems of Tantric practice. The *Kula* system advocates the use of five makāras prevalent in the Tantric sects of the left hand systems. It can be practised only by some heroic practitioners capable to keep their minds constantly concentrated on the mystic formulae and also on the deity worshipped by means of such offerings and services sweet to senses.

One has to keep his mind concentrated in meditation while enjoying outwardly all such means of sense pleasure. Indulgence in all such sensual activities is not to be allowed to disturb the meditation of an aspirant. Initiation in this path is therefore granted only to such persons who can easily and spontaneously control their mind and senses. When an aspirant can succeed thoroughly in controlling the effects of such powerful objects and means of sense pleasure and in keeping his mind immersed in meditation while indulging in their use, he can afterwards attain such a psychological state in which he can constantly enjoy the divine bliss of his unity with *Parama-Śiva* even while doing all the worldly activities. He shall not then require any formal practice in a secluded place under any special discipline for that purpose. An aspirant gets access to the limitless and divine self-bliss through the path of worldly enjoyment by means of such Tantric practice.

(to be continued)

ABHINAVAGUPTA : ANUBHAVANIVEDANA
The offering of Experience

Dr. Bettina Bäumer

अनुभवनिवेदन

१. अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो
शून्याशून्य-विवर्जितं भवति यत् तत्त्वं पदं शाम्भवम्॥

२. अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥

३. शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत् कापि मुद्रैव सा।
प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते॥

४. मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन् न संलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी ।
योगः स प्रथते यतः प्रवहणं प्राणस्य संक्षीयते
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं किं न नामाद्भुतम्॥

Translation :

THE OFFERING OF EXPERIENCE

1. When the yogi, his mind and breath merged in the inner goal,
directs his gaze outeard, unblinking,
himself seeing, yet as if not seeing,
by your grace, Master, this is the imprint of Śiva.[1]

1. *Mudrā*, or the attitude, the pose, the mark.

This Reality indeed is the state of Śiva,
beyond both void and non-void.

2. With half-open eyes, mind firmly collected,
his gaze directed to the tip of the nose,
with sun and moon[1] dissolved at the centre of the threefold
movement,[2] he attains the supreme Principle,
of the nature of Light devoid of externality,
the One Spirit, the state of Supreme Reality...
What more is there to say?

3. Each word from his mouth is a supernatural *mantra*,
the posture of his body, cause of joy and suffering,
is itself the mystic *mudrā*. The spontaneous flow
of his breath is truly the wonderful *yoga*.
When I realize the supreme light-filled domain
of Divine Energy, what does not shine?

4. A *mantra* illumines without distinguishing
the arrangement of the letters. *Mudrā* is that posture
that occurs spontaneously when bodily action ceases.
Yoga is revealed when the flow of breath has stopped.
For the good-hearted what is not wonderful? They share
in the festival leading to your luminous domain.

Commentary:

In these four condensed verses Abhinavagupta gives us the gist of his own mystical experience, as the title itself suggests.

The first verse starts with a state of complete interiority of the yogi, which is transformed into *kramamudrā* by opening of the eyes, without losing the interior gaze. The technical meaning of *kramamudrā* is this alternation of looking within and outside while remaining in the same state of God consciousness. It happens by grace of the (Divine) Master, not by one's own effort. The mystical state achieved in this way is termed *śāmbhavīmu*drā (or *bhairavīmudrā*), a state that is completely 'sealed or imprinted' by Śiva, a state which can neither be described as void nor as

1. The two breaths, *prāṇa* and *apāna*.
2. *Prāṇa*, *apāna* and *udāna*.

fullness, for it transcends all opposites and dualities, even this last apparent duality of void or non-void.

In fact, the term *mudrā* seems to be one of the key words of this hymn, for Abhinavagupta uses it consciously in all its meanings and dimensions: *mudrā* as a seal or imprint, as a conscious body posture or hand gesture, as a spontaneous mystical attitude, as the final divinized state of a *jīvanmukta*.

In the second verse there is still some practice involved. If the first verse describes the *śāmbhava* state, the second may relate to the higher level of the *śākta* state. It consists in a practice of 'centering - between inbreath and outbreath, sun and moon. In the centre shines the Light of the Supreme Reality, of pure Consciousness. The poet is at a loss to say anything more about this Reality which, to him, is so evident as to need no further comment.

The third verse actually describes the state of a *jīvanmukta* which is a state of complete spontaneity. The three essential elements of any *sādhanā*, namely *mantra*, *mudrā* and *yoga*, are for him no practices involving any effort, rather he becomes their author and origin. His very existence reveals all the yogic practices and mystical states which flow out from him : every word he utters is a powerful *mantra* capable of transforming those who hear it, because it is charged with divinity. Every movement of his body or even the slightest gesture is itself a mystical *mudrā*, expressing his own divinity and impressing it on others. If *yoga* consists in any kind of breath exercise, in his case the natural movement of his breath, every act of breathing is itself nothing but *yoga*, union with the Divine.

At this point the author breaks out in the first person *(mamānubhāvataḥ)* - he cannot hide his own experience which is one of all-pervading, pure Light, the realm of Energy *(śāktaṃ dhāma param)*.

In the fourth and final verse Abhinavagupta gives a kind of commentary of the three elements *mantra*, *mudrā* and *yoga* as they ascend from the level of *āṇava* where they still represent an actual practice, to the completely spontaneous state of *śāmbhava*. This is a wonder for the good-hearted or wise (*sudhī*, since the supreme mystical state does not remain

confined to the selected few, it is not an individual affair (this would be a contradiction), but it is shared with others in the great Divine festival. The term *utsava* has been frequently used by Utpaladeva in his Śivastotrāvalī to denote the mystical feast of sharing in the Divine, luminous Reality.



While reading and meditating on this hymn one cannot help being reminded of the one who personified the state described by Abhinavagupta, who experienced the highest *śāmbhavīmudrā* in his very body, and who gracefully shared his divine state with those who were fortunate enough to have his *darśana* or to be his disciples: Ishvar Svarup Swami Lakshman Joo, the Master. In him one could see the state described in verse two of Anubhavanivedana: his words had the power of *mantras*, his movements and gestures were divine *mudrās*, his very breath and life was a complete *yoga*.



*Obeisance To Svāmījī

Late Dr. R.K. Kaw

I am thrilled to see Swami Ji's divine personality and spiritual glory. The Ashram remains packed with his devotees and disciples, having a deep spiritual yearning in their minds, as well as other visitors, some of whom come there for his *darshan*, some to listen to his *vyākhyāns* (discourses) some to touch his holy feet for his blessings, and so on. One feels that the moment he visits the Swami, he is overwhelmed with his godliness, kindness and generous readiness to help and give his blessings to all those who approach him, without any distinction of faith or creed.

Swami Ji is an extraordinary seeker of truth. From his early age, this was his sole ambition. He seems to have been born with an indomitable

*This obeisance was offered on 11th April 1972 on the auspicious occasion of Svāmī Jī Mahārāji's birthday, by Dr. R. K. Kaw who happened to be honorary director of Sharada Peetha Research Centre K.Nagar Srinagar.

will, a dauntless determination, and an all-defying spirit of independence and patience, and readiness to go through all stages of *Samādhi* or meditation. Truth can be visualized only by one who puts his entire life in tune with the Ultimate Reality and when the aspirant immerses himself in it day and night, having the goodness of character, all-round discipline of the body, the senses, the mind, the heart and the intellect. I believe, by dint of all such disciplines, Swami Ji has realized the Truth and penetrated into the deep realms of spiritualism.

Apart from the veneration people have for Swami Ji for his self-discipline and spiritual insight, many come and throng round him to be benefitted by his vast knowledge of Kashmir Shaivism and his simple and easy way of explaining the difficult maxims of philosophy. He talks things with clarity, not merely from his scholarship but also from his spiritual experience. In fact, in his *vyākhyāns* be can never dissociate real intellectuality from spirituality, even for a moment. He finds an adequate opportunity for his full spiritual self-expression when he is invited to deliver his *vyākhyāns* especially at our Centre. In his words one does not fail to find the tone and depth of Abhinavagupta and sweetness and novelty of Utpala. He is a reincarnation, in the present time, of those seers and sages of Shaiva lore who found their highest self-realization in the pursuit of truth and knowledge, and bliss in the kingdom of spirit, where worldly allurements like riches, prestige and position and titles concern them not.

And, finally, I am struck with two facets of Swami Ji's life, one is that of renunciation (for search of truth), and the other of spiritual kinship with all who gather round him, without any distinction. This is indeed a unique combination. Although he has renounced the world and prefers to pass most of his life in seclusion, yet he cherishes to make his whole parivār (gathering) as one family (kutumba) and feels a great delight in their midst. I remember when on the last sunday, he took leave of the congregation to go out of the valley for two weeks (in this winter), he expressed a desire that if his whole *parivār* were accompanying him, he would indeed be very happy to pass a longer time outside.

Swami Ji's services to the philosophical literature of Kashmir are significant, as is evinced by his edition of *Gītārtha-saṁgraha* of

Abhinavagupta, his edition of *Utpalastotrāvalī* with his is Hindi commentary and foot-notes, and his so many other works and articles.

May Lord Maheshvara bless the Swami Ji to witness yet many many happy returns of his birthday, so as to be an ever fresh fountain of inspiration and an ever-bright beacon-light for an ever-increasing number of his disciples, devotees and others.

Courtesy - Sharada Peetha Research Centre, Karan - Nagar, Srinagar



Swami Ji's Birthday Felicitation *(Abhinandanam)*

Dear Pūjya Svāmī Ji,

We, your disciples and devotees *(bhaktāḥ)*, have assembled here, today, to present this Birthday Felicitation Address *(Abhinandanam)* to your holiness with our deep affection *(Prīti)* and profound reverance *(bhakti)* for your esteemed self, expressed, as it is, in Oriental tone.

We believe, in thee, our Gurudev, *Viśvottīrṇa* (the Infinite) has embodied Himself in the limited form of this *Viśva-rūpa* with the sovereignty of His will *(icchā, svātantrya)*—

विश्वोत्तीर्णो स्वेच्छया विश्वरूपः गुरुरूपत्वम् उपागतः,

a Bodhisattva, as it were, having descended upon the earth from amongst the gods of the heaven of Tuṣita —

देवेभ्यस्तुषितेभ्योऽथ बोधिसत्त्वः क्षितिं व्रजन्,

for the good of humanity, dispelling the darkness, of ignorance from mankind—

यश्च मानवानां तिमिरहरणः सज्जनानां हिताय मर्त्यलोके अवतीर्णः,

whose very sight *(rūpam)* gives happiness, joy and cheer to men—

रूपं यस्य निखिलजगतां हृत्प्रमोदस्य हेतुः,

Thou offereth the drink of nectar of Shaiva lore, flowing from the lotus of thy mouth, to masses of thine devotees—

यः शैवाख्यं परमम् अमृतं स्वाननाब्जात् निर्गतं भक्तवृन्दान् पाययति.

With thy smiling face, thou explaineth the difficult maxims of philosophy in a simple and easy way, removing all the doubts from the learners—

व्याख्यानेन प्रहसितमुखः कर्तनः संशयानाम्.

Not only dost thou thyself pass over the deep ocean of evil, agitated by waves of anger, intoxication and fear, but also ferryeth thou the people across the same—

यो हि क्रोध-मद-भय-तरंग-चल दोषसागरम् अगाधम्
न स्वयम् एव प्रततार अपितु लोकम् अपि व्यतारयत्.

Thou art one of those ascetics, who perform hard penance, regardless of the comforts of their bodies, with their minds fixed upon the path of righteousness and happy in their toil (directed to the good of humanity)—

निरपेक्षाः शरीरेषु धर्मे यत्र स्वबुद्धयः। संहृष्टा इव यत्नेन तापसास्
तेपिरे तपः। तेषां पदपद्धतिम् एव अनुव्रजन्तोऽधुना भवन्तोऽवलोक्यन्ते.

Being a born Yogin *(Sahaja-yogī)* and one whom *tapasyā* is a rich possession *(tapodhana),* thou art absorbed in performance of extremely hard penance from thy very early age, with thy mind fixed on the Ultimate Truth—

सहज-योगी तपोधनः भवान् बाल्यादेव दुःसहे परमतपसि वर्तमानः.

Being a born devotee of the Lord Maheshvara, thou hast become a worthy recipient of His gift of the knowledge of the esoteric doctrine of *Pratyabhijnā*—

कथंचिद् आसाद्य महेश्वरस्य दास्यम्.

Thou dost not feel joy when honoured, nor unhappiness when shown disregard—

प्रतिपूजया न हृष्यति न च अवज्ञया शुचमाप्नोति.

With a desire to uplift suffering humanity *(Paśu-pramātā)* lying lost in the marsh of the evils of the world, thou hast found a way out for him

in the precept of "Udyamo-bhairavaḥ", i.e. making decisive effort to bring under control all passions and thus become a *bhairavaḥ* (the powerful).

अज्ञानपङ्कनिमग्नानाम् उद्धाराय सुकरम् उपायम् व्यधात् 'उद्यमो भैरवो' यः.

With thy profound knowledge and eloquence, thou inspireth many of thy disciples and giveth them delight like the moon with its nectarious beams and removeth their darkness of ignorance with thine light (of knowledge) like the sun—

शैवाम्नाय प्रवचनरतः शंकरो यो हि देवः, पीयूषांशुरिव मुखरुचा
ह्लादयन् शिष्यसंघान् दीप्त्या भास्वानिव हृदय पङ्केरुहोद्‌बोधहेतुः.

That glorious embodiment of spiritual illumination, shining with the light of divine wisdom is not in the least tired of imparting knowledge to us, thine thirsty devotees—

ज्ञानपिपासार्तेभ्योऽस्मभ्यं ज्ञानामृतदानात् श्रीमन्तः
ज्ञानप्रकाशस्वरूपः जातु न विरमन्ति.

May our mouths be more and more beautifully adorned by singing sweeter songs for thee—

त्वत् प्रलापमयरक्त-गीतिका नित्ययुक्त-वदनोपशोभिताः स्याम्.



अथ गुरुस्तुति-प्रारम्भः

१) विश्वोत्तीर्णं चिदानन्दं साकारत्वम् उपागतम्।
गुरुरूपतया वन्दे प्रत्यक्षं लक्ष्मणं शिवम्॥

May we offer obeisance to Shiva, who is beyond this mundane existence, who abounds in conscious beautitude and who has embodied Himself and stands before us in the form of our Guru, Rev. Lakshmana Ji.

२) स्तौमि भक्त्या लक्ष्मणम् एकं शिवरूपम्
यस्मिन् करुणामैत्रीप्रज्ञाः स्फुरन्तीत्थम्।
यस्मिन् दृष्टे नश्यति तत्संसृति दुःखम्
तं संसारध्वान्तविनाशं गुरुमीडे॥

Obeisance to thee, O Lakshmana Swami, Shiva-incarnate, who manifests compassion *(karuṇā)*, friendliness *(maitri)* and divine wisdom *(prajñā)* By whose darshana, the evils of this samsāra are annihilated. May I bow to the dispeller of the darkness of ignorance, our Guru.

३) आचार्येभ्यो लब्ध सुसूक्ष्माच्युत-तत्त्वाद्
वैराग्येणाभ्यासबलाच्चैव दृढ़िम्ना।
भक्त्यैकाग्रध्यानपरो यो वेत्तीशम्
तं संसारध्वान्तविनाशं गुरुमीडे॥

Who has found God *(Īśvara)* by realizing the Profound and Absolute Truth from his Gurus, by *vairāgya* (asceticism), by a great force of *abhyāsa* (yogic practices), by *bhakti* (devotion), and by concentration and meditation *(dhyāna)*. May I bow to the dispeller of the darkness of gnorance, our Guru.

४) प्राणानायम्योमिति चित्तं हृदि रुदध्वा
नान्यत्स्मृत्वा तत्पुनरत्रैव विलाप्य।
क्षीणेचित्ते शाम्भव-तत्त्वं योः वेत्ति
तंसंसारध्वान्त विनाशं गुरुमीडे ॥

Having suppressed his breath (in *Yogābhyāsa*) and concentrating his mind on the sacred word *"Om"*, and thinking about nothing else, fixing it (mind) again on the same *(Om)*, who realized *Śāmbhava* Tattva (Reality), on relaxation of his mind, I bow to him. May I bow to the dispeller of the darkness of gnorance, our Guru.

11th April, 1972

Late Dr. R.K. KAW *(Director)*
On behalf of the members of the
Sharada Peetha Research Centre, Karan-Nagar, Srinagar,
and on behalf of the devotees of Ishwar Ashram, and others gathered.



श्री शिवभट्टारक राजानकलक्ष्मणजयस्तोत्रम्

Song of Praise to Rajanaka Lakshman,
who is no other than Siva, Self, Consciousness,

Sh. D.N. Shastri (Yakṣa)

जय कुलाकुल प्रथामयचिन्मणे जय परापरपरामृतवारिधे।
जय शिवादिवसुधावधिभासक जय प्रकाशितकरन्ध्रचिदम्बर॥

We celebrate your Being which both includes and transcends the totality of things. You are the jewel of consciousness. You are the ocean of the elixir of this plane and the plane beyond. All that there is, from Siva to earth, is manifested from your light. Within you the space of consciousness is luminous by its own radiance.

जय सदोदित स्वशक्तिप्रथास्पद जय मलावलिविनाशनकोविद।
जय सदोदितत्रिवर्गपदातिग जय विमर्शप्रकाशपुरः सर॥

We commune with your ever-rising energy, O expert in destroying the troop of limitations. You continually renew yourself, established out of the reach of the triads. Self awareness and Beingness herald your presence.

जय स्वभक्तजनार्तिनिशारवे जय घनस्मृतिप्रमोदसरित्पते।
जय त्रिनेत्रजप्रकाशमनोहर जय प्रकाशय सदाम्बवपुर्मम्॥

We sing of you, O Moon illumining the night of devotee's suffering. We sing of you, O sea of delight arising from remembrance of Self-God. The light from your three eyes, the touch of your powers of will, knowledge and action, thrills our hearts. Reveal to us our own perfection.

जय तिरस्कृत समस्त प्रयोजन जय परापरस्वशक्तिरसोल्वण।
जय परापरविमर्शपरायण जय भवतापविनाशनलक्षण॥

You have discarded ends and goals. Your energies swirl encompassing the inner and the outer. Both the spirit and the world shine in your awareness. It is your disposition to put an end to the anguish of existence.

जय प्रसीद परिनाशय दुर्दृशं जय निवारय मम मलालिसंभ्रमम्।
जय शिवेश्वर मुनीन्द्रप्रभान्वित जय देशिक पदस्थितिशोभित॥

Be pleased and remove our misery, the misery of self-depreciation.

Annihilate delusions and false perspectives. We honour you, O Siva, O God, O Supreme Seer. Your luster envelops the seat for a Master.

जय जयेश्वर सदाऽद्वयनिश्चल जय जयेश महेश्वर निष्कल।
जय सहजात वित्क्रियात्मरूपक जय जयामलजगत्रयनायक॥

Hail, hail, Lakshman, the Lord, the unagitated, the one Hail, hail his unfragmented being. To know and to act are your natural powers. We hail your purity, O leader of the three realms, O traveller through the three states.

जय शक्तिव्रातलसच्चक्रेश्वर जय सहृदयसुधारसषट्पद।
जय प्रकाशय ह्यनुत्तरसंपदं जय ममेश प्रकटीकुरु स्वचितिम्॥

We offer ourselves to you we establish ourselves in Self-You, who govern all Shaktis. You are the heartful be relishing the nectar of Self. Manifest the wealth of pure being that no wealth can surpass. My Lord, disclose to us the might of your consciousness, of our consciousness.

जय सदोदित समाधिमयेक्षण जय विलक्षण सुलक्षण लक्ष्मण।
जय स्वभक्तिरसलालसमानस जय सदार्चित सदाशिवपत्कज॥

We affirm our Laksman of unique qualities. Your eyes are absorbed in continual *samādhi*. Your mind feasts on the sweet devotion to Self. May we always worship your lotus feet, may we always function from the universal I.



SWAMI RAM JEE - A Param Siddha

S.K. Mam

The Param Siddha, Swami Ram Jee was born on "Pauṣa Krişṇa Dvadashi" i.e. in December, 1853. He got his primary education in his home and was taught by his father, Pt. Sukh Dev Jee. The Vidya comprised of Karmakand and Astrology. When his father recognised his sharp intellect and determination in the subjects he wanted to impart him the spiritual education. Pt. Sukh Dev Jee took his son to the saint whose name

was Swami Mansa Ram Monga for the purpose. When the saint looked at him and talked to him, he got very much impressed with this lad. Swami Ram jee used to visit the saint's house daily and learn Shaivic Philosophy and then perform it practically (Yogic Kriya) there.

He was married to a Kashmiri Brahmin girl, Saraswati Devi, at the age of 15. Smt. Saraswati Devi used to look after the household work with full devotion. After sometime, she gave birth to a son and the child was named as Krishan. Krishan died at the age of 3. The shock of her lovely son's death told upon her health and she also passed away within a year. He was left alone in his house as death snatched all his near and dear ones of his family. In 1878, he lost his house also which was completely gutted in the fire. This proved to be a blessing in disguise for him.

The seniormost disciple of Swami Ram Jee was Sh. Sudama Jee Miskin, who lived in Malapora, Habakadal. He took his Guru to his home and served him there for about three years. Then another disciple of Swami Ram Jee, Sh. Narayan Dass Raina (father of a renowned saint, Swami Lakṣmaṇ Joo of Ishber, Srinagar) prayed and virtually begged him to come to his house at Namchabal, Srinagar. After three years, Swami Ram Jee left his house also and established an Ashram in Fatehkadal, Srinagar. Sh. Narayan Dass Raina donated his three storeyed house which was later converted into Shiv Ram Trik Ashram in the year 1884 where Swami Ram Jee lived for 30 years. During this period (1884-1914) many disciples came to this Ashram to seek his blessings and spiritual education.

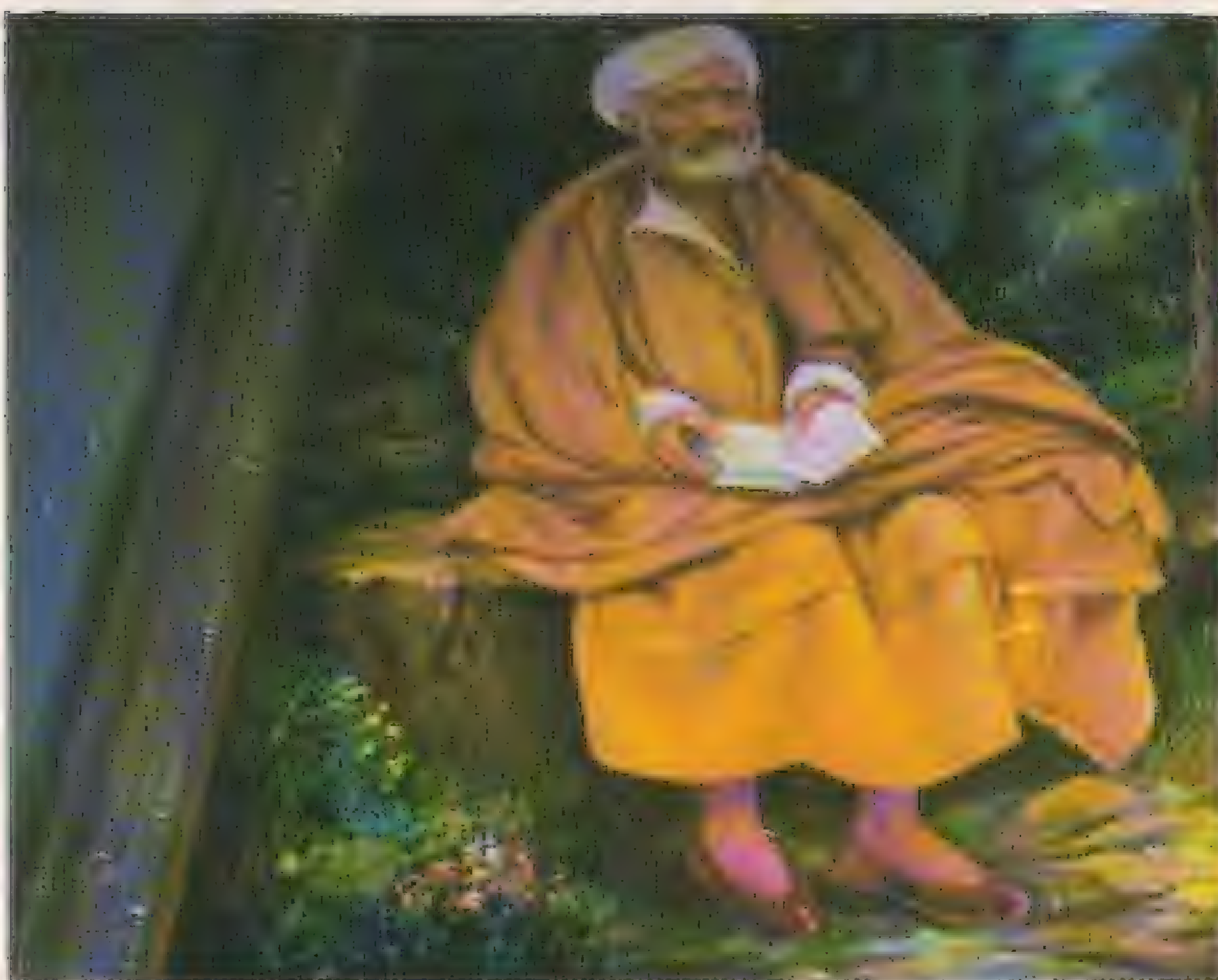
During this period, Swami Ram Jee performed numberless miracles. Some of these are as under :-

Same person at two different places at the same time :-

One of the disciples of Swami Ram Jee was Sh. Gash Kaul Jalali. Swami Ram Jee lovingly used to call him by the name 'Svachchanda Nath' one of the forms of Lord Shiva) because of his sacrificing love and respect for his guru. Sh. Gash Kaul Jalali (a saint of high order) was working as Head Clerk in P.W.D. He was residing in Ali Kadal, Srinagar. His daily routine was to leave his home at 08.30 A.M. reach his Guru's (Swami Ram Jee's) Ashram at Fatehkadal, seek his blessings and then to



शाम्भवसमाधिनिष्ठ
परमसिद्धयोगी श्रीराम



उन्मीलनअवस्था में अन्तः
स्थित विश्व को बाह्यरूप
में देखने को उत्सुक
सिद्धयोगी श्रीराम

leave for his office. On his return from the office in the evening, he used to visit Swami Ram Jee's Ashram, again stay there for some hours and then to leave for his home.

One day, as per routine, Sh. Gash Kaul Jalali, went to Swami Ram Jee's Ashram in the morning and forgot to attend h is office. Nextday he went to his office as usual and asked incharge attendence clerk to mark his previous day's attendance. The peon in reply said, "You, yourself have marked your attendance yesterday". He was taken aback by this reply and the peon left the room. He again called the peon and said. "Had I come yesterday?" The peon gazed at him and said, "Are you alright sir? Yesterday did not you ask for a glass of water as well as fruits, which I served."

With these thoughts striking in Sh. Gash Kaul's mind, still the fear didn't vanish as, the English bosses used to be very harsh against any kind of indisciplne.

After sometime, he was called by his English boss and he went inside his Chamber, where the boss warmly welcomed him. The boss appreciating Gash Kaul's intellect and honesty and said,"Yesterday, the five points put down by you are worth appreciating and Praiseworthy which need to be implemented". Sh. Gash Kaul, since not knowing those 5 points remained in a fix. Suddenly, the English boss began to narrate all those 5 points.

When Sh. Gash Kaul reached the Ashram, in the evening, Swami Jee told Sh. Gash Kaul, was the arrangement to the full or something was lacking. Sh. Gash Kaul at once bowed at the Master's feet and sought his blessings.

2. *Instructions to Swami Vivekananda*

In 1892, Swami Vivekananda came to Kashmir and visited Swami Ram Jee's Ashram at Fatehkadal, Srinagar. When Swami Vivekananda reached the Ashram, Swami Ram Jee was engrossed in deep meditation. Seeing him in meditation, Swami Viveknanada narrated a Shloka :-

Harireva, Jagat jagata eva Hari,
Hari to Jagto, Nahi bhinnamaṇu,

Iti yasya Mati Parmarth Gati,
Sa Naro bhavaṣāgaramuttarti.

Then Swami Ram Jee opened eyes and read out a Shloka in reply to it :-

Ādau Ante Cidrasa rūpam,
Madhye Cidarasa, buda budarūpam,
bhātam bhātam bhārūpm syāt
No bhātam Ceta Nitrat Na Syāt,

Swami Vivekananda found bliss there and said, "In Kashmir, there is still a spiritual light." Swami Vivekananda, then put forth his difficulty in front of him, which he was facing. Swami Ram Jee instructed him to go to Mata Khir Bhawani at Tulamula, where he would get his problems solved.

As directed by Swami Ram Jee, Swami Vivekananda went to Khir Bhawani. There he found a divine light arising from the Holy spring (a sign of success) and he got a satisfaction.

Then Swami Vivekananda requested Maharaja Partap Singh, the then ruler of Kashmir, to construct a marble temple at Khirbhawani which Maharaja acceeded to.

Then a year after Swami Vivekananda went to Chicago (U.S.A.) to attend the Parliament of Religions where he met with a grand success with the blessings of this Kashmiri saint.

3. *How Swami Lakshman Joo of Ishber, Srinagar was born :-*

Once in the midst of the night, Swami Ram Jee ordered his disciple, Sh. Madhav Joo Tiku, to get some milk from Sh. Narayan Dass Raina's residence, Sh. Madhav Joo, at once, left for the said place and knocked at their door. Sh. Narayan Joo's wife rebuked him and refused to give him the milk. Madhav Joo came back to the Ashram, empty handed, Swami Ram Jee having (a Trikaldrishi), knowing everything fully, ordered him to get the potatos from Jana Bibi's (a Kashmiri Mohammadan vegetable seller) residence, Jana Bibi was a childless lady who couldn't become a mother even after 25 years of marriage. When Sh. Madhav Joo knocked at her door, she opened it and when she came to know that Swami Ram

Jee wanted some potatos, she gave Madhav Joo 8-10 Kgs of potatos instead of few potatos with full love and respect. Sh. Madhav Joo brought these potatos to the Ashram. Swami Ram Jee told Madhav Joo to prepare few potatos but these should be boiled first and then fried. The preparation was made and Madhav Joo offered it to his Master (Guru). Swami Ram Jee, himself sprinkled some salt and chilly over it. Swami Ram Jee took one potato and while taking it said, "I have swallowed the first son of Sh. Narayan Dass Raina", then he took another potato and while taking it said, "I have now consumed his second son,' When Swami Jee was about to pick up the third potato, Madhav Joo, present there, pleaded for mercy. Then Swami Jee kept that potato aside and picked up another potato and while taking it said, "Jana Bibi has been bestowed with a son."

Within a span of few days, both the sons of Sh. Narayan Dass Raina died.

This tragedy left her completely heart broken and realising her mistake, she along with her husband (Sh. Narayan Dass Raina) went to Swami Ram Jee's Ashram. She wept bitterly there and said, "Swami Jee, please forgive me for the sin which I have committed. I have come at your holy feet with a broken heart. Please forgive me, don't disappoint me."

Swami Ram Jee patted her and said, "You will soon be blessed with a great son."

Then after sometime, she gave birth to a son. The baby was immediately brought to Swami Ram Jee's Ashram. When requested by Sh. Narayan Joo and his wife to give a name to this child, Swami Ram Jee said, "I am Rama and the child is Lakshman."

This is a fact that no yardstick is available as yet in this universe to measure the spiritual depths of a human being, but it is said that Swami Ram Jee was an incarnation of Lord Shiva.



SWAMI LAKSHMANJOO
The Illustrious Shavite Philosopher

Nath Ji

The ninety first Jevan Jayanti of the renowned Shavite Saint Sadguru Shri Ishwar Swaroop Swami Lakṣmaṇjoo Māharāj will be celebrated on 23rd April, 98 at Swami Lakshmanjoo's Ishwar Ashram located at Nishat, Srinagar 2, Mohinder Nagar, Jammu, Sarita Vihar, New Delhi with full devotion by his followers to seek the blessings of the renowned Saint Philosopher of Kashmir Shaivism.

More than one hundred years ago, a Kashmiri Pandit of the Raina dynasty by the name of Pandit Rishi Ram Raina lived at Namachabal, Fatehkadal area of Srinagar, He had two sons Pt Narayan Dass and Pt. Shivji, of whom Pt. Narayan Dass joined the business and was an employee of the erstwhile Maharaja of Chenani. He was also a pioneer in the house-boats industry in Kashmir and was accordingly nicknamed "Navou Nāran", 'Navou' in Kashmiri means - a boat. The second son of Pt. Rishi Ram named Pt. Shivji Raina joined the Govt. service and rose to become a senior teacher in the education department.

Their 'kul-guru' was Shaiva Acharya Swami Ramji, who was a Shaivite yogi and spiritual saint of all heights, The then ruler of J&K Maharaja Partap Singh (1887-1924) used to frequently visit Swami Ramji and seek his blessings. Even Swami Vivekananda, the great religious Philosopher and thinker twice visited the Ashram of Swami Ramji, There he was directed by the Swamiji to visit Kheer Bhavani Shrine at Tulla-Mulla, North Kashmir to get the spiritual solace and attainment of his desire. Many renowned saints from outside the J&K State used to visit the Fatehkadal Ashram. Swami Ramji lived for three years (1879-82) with one of his disciple Pt. Sudamaji Miskeen. Another of his disciple Pt. Naryan Dass requested Swamiji to come to his house for staying there. According to his request, Swamiji lived with him for two years. There after Swamiji conveyed his disire to shift from this house and, Narayan Joo reluctantly agreed to Swamiji's desire to shift to another house of Narayan Joo located at Fatehkadal, Srinagar.

Swāmiji shifted to this house on May, 1884, which later on became the venerated Ram Shaiva Trika Ashram. After sometime, Pt. Narayanji's only son named Maheshwar Nath suddenly passed away. But inspite of this tragic loss, Pt. Narayan Dass and his wife Arinie Mal, the devotees of Swami Ramji continued to visit the Ashram.

One day, when Swami Ramji was in a happy mood, one of his trusted disciples Pt. Gash Koul humbly requested the Swamiji to bless Narayanjoo with a son. Thereafter, Swamiji called Narayan Dass and directed him to ask his wife to come to the Ashram on the full-moon night of 'Sawan' month of the year 1906. Hearing this, he became very much elated and accordingly asked his wife to do the same.

On the pre-directed day, she visited the Ashram, taking alongwith her some fresh fruits and on entering the Ashram, she sat infront of the Swamiji, who was in deep 'Smadhi' at that time.

After some-time, Swamiji opened his eyes and on finding her present, he took out three almonds from his pocket and gave them to her. The other devotees present in the Ashram and witness to this incident, congratulated her for the kind favour shown to her by Swamiji.

In the following morning, she took the almonds as directed by the Swamiji. After sometime, she got blessed with a son on the morning of twelveth day of Baisakh (dark fortnight) i.e. 27th Baisakh of 1964; corresponding to 9th May, 1907 A.D. Pt. Narayan joo took his newly born son to Swamiji's Ashram and put him near the feet of Swamiji. Swamiji in an elated and jovile mood took the newly born baby child in his lap and exclaimed "I am Ram and he is Lakshman." So, the newly born child was named Lakshman, who latter-on became the great Shavite philosopher Swami Lakshmanjoo. From his very childhood, the little Lakshmanjoo used to come to the Ashram daily with his father or mother. When he was seven years old, Swami Ramji handed over the child to one of his trusted disciple Pt. Mahtab Kak for the spiritual guidance and upbringing.

Laksmanjoo got his early education from S.P. Middle School. He learned Sanskrit and Shavite philosophy from Maheshwar Nath Razdan of Shalayar and many more shivite texts from other learned shiva scholars of the day.

Once Swami Lakshmanjoo felt the urge to seek solace in an isolated and secluded place and accordingly left his home and went to Sadhu Ganga Shrine, situated at Handwara Kandikhas. Learning this, his fater brought him back and arranged a shelter for him in the lap of the mountain range near Nishat, where he later on meditated. A widow named Kamla Baba handed over him a piece of land on the bank of famous Dal Lake between Nishat Garden and Gupt Ganga. It is here Swami Lakshmanjoo latter-on taught Shavite philosophy and gave discourses on it.

Even after having established the said Ashram, Swamiji used to frquently visit the Swami Ramji's Ashram of Fatehkadal and would direct his disciples to seek the blessings of Swamiji.

Ishwar Swaroop Lakshmanjoo was loved and respected by all. He had a great attachment with Ram Shaiva Trika Ashram and used to say that it is the 'Head-Office'. Pt. Prem Nath Nehru (Masterji), Pt. Sarwanand, and Pt. Balkrishen were his devotees. Swami Lakshmanjoo had no ego and would gladly accept the others point of view. He would never criticise any body and would feel delighted about devotees taking food and tea at the Ishwar Ashram. He was an ardent lover of Nature. He got many of the old books on Kashmir Shaivism reprinted. The fragrance of his Shavite philosophy attracted innumerable people, not to speak of western devotees, who would flock to his Nishat Ashram with the desire to gather the precious gems of Shaivi philosophy. His whole personality was a source of attraction to all. Swamiji did not approve life long renunciation but on the contrary had a positive and realistic approach towards life. His philosophical discourses and lectures were a source of inspiration and enlightment in the present-day suffocating materialistic atmosphere.

His message is like a balm in soothing the overtaxed man giving a purpose and meaning to life, which is the ultimate reality of absolute consciousness.

Kashmir Shaivism projects this ultimate reality, and this reality is formless.

Swami Lakshmanjoo's devotees took him to USA in the first week of August, 1991. It is learnt that he became indisposed there and afterwards had to be flown-back to Kashmir in ailing condition. Due to indisposition he

was brought back to Delhi for treatment at A.I.I.M.S. where from he was shifted back to Noida where, he attained Mahanirvaṇ on 27th Sept. 1991.

On this auspicious day, we bow to Guru Dev, the noblest soul and a great exponent of Kashmir Shaivism; keeping in mind that Lord Shiva is present and pervading everywhere. We also prey to Lord Ishwar Swaroop Swami Lakshmanjoo to remove the illusion and grant us peace and calmness.



विज्ञानभैरव - समीक्षात्मक अध्ययन

मूलप्रवचनकार

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू महाराज

IV

(गतांक से आगे)

श्री देव्युवाच–

श्री देवी ने कहा–

देवदेव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण।
दिग्देशकालशून्याच व्यपदेशविवर्जिता॥ २२॥

यावस्था भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते।
कैरुपायैर्मुखं तस्य परादेवी कथं भवेत्॥ २३॥

यथा सम्यगहं वेद्‌मि तथा मे ब्रूहि भैरव।

(*अन्वय*- हे देवदेव ! हे त्रिशूलाङ्क ! हे कपाल कृतभूषण ! दिग्देशकाल शून्या, व्यपदेश विवर्जिता च या भैरवस्य भरिताकारा अवस्था, (सा) कैरुपायैः उपलभ्यते। कथं परादेवी तस्य मुखं भवेत्? भैरव ! तथा मे ब्रूहि यथा अहं सम्यक् वेद्मि।)

हे देवताओं के भी देवता ! हे त्रिशूल को धारण करने वाले ! हे कपाल (खरपरों की) माला रूपी आभूषण से भूषित भैरव ! दिशा, देश और काल की इयत्ता (limit) से रहित,

नाम रूप आदि से पुकारी नहीं जाने वाली परिपूर्ण स्वभाव वाली भैरव की जो अवस्था पाई जाती है, वह परादेवी किन उपायों से जानी जा सकती है? और किन उपायों से वह भैरवावस्था में प्रवेश का द्वार बन सकती है? हे भैरव ! कृपया विस्तार से मुझे कहिए जिससे मैं भैरव के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझ सकूँ॥ २२-२३॥

देवदेव—देवताओं के भी देवता अर्थात् ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव तक सभी देवताओं के स्वामी।

त्रिशूलाङ्क—हे त्रिशूल को धारण करने वाले **कपालकृतभूषण**—कपाल मालारूपी आभूषण से भूषित। ये तीनों विशेषण आमन्त्रण पद है अर्थात् भगवान शिव को इन विशेषणों से पुकारा गया है।

दिग्देशकालशून्या—वह अवस्था जो दिशा (direction), समय (time) और देश (space) से परे है।

व्यपदेश विवर्जिता—वह अवस्था जो विशेष नाम या विशेष पद से नामांकित नहीं की जा सकती है।

भरिताकारा—वह अवस्था जो सदा परिपूर्ण है। **भैरवस्य**—भैरव की उस अवस्था को।

तस्य मुखं कैरुपायैः—इस ध्येय तक पहुंचने के लिए किन उपायों को प्रयोग में लाया जाता है अर्थात् किन उपायों से वह परादेवी शिवावस्था में प्रवेश का द्वार बन सकती है?

परादेवी कथं भवेत्—परादेवी कैसे जानी जा सकती है? अर्थात् परादेवी स्वरूपं कथं भवेत् - परादेवी की स्वरूप उपलब्धि कैसे होगी ? साक्षात्कारतया प्राप्नुयात्। **यथा सम्यक् अहं वेद्मि**—हे प्रभो ! मुझे वह तरीका बतावो जिससे मैं यह अच्छी तरह समझ सकूँ।

इत्युत्तरं श्री शिवोपाध्यायकृत विवृत्तिः—यहां से विज्ञानभैरव आगमग्रन्थ की व्याख्या श्री शिवोपाध्याय की है।

श्रीभैरव उवाच—देवी द्वारा पूछे गये प्रश्न पर भगवान् भैरव ने कहा-

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत्।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणात् भरिता स्थितिः ॥ २४॥

(*अन्वय*- (योऽयं) ऊर्ध्वे प्राणः हि अधः जीवः (एषा) परा उच्चरेत् (कीदृशी) विसर्गात्मा। (यतः एवं अतः) उत्पत्तिद्वितयस्य यत् स्थानं (तत्र) भरणात् भरिता स्थितिः।)

हमें सांस को हृदय से द्वादशान्त तक, पुनः द्वादशान्त से हृदय तक लेना चाहिए। इसी तरह से प्राण और जीव (अपान) का उच्चार करना चाहिए। प्राण के उच्चार से यह तात्पर्य

यह है कि "स" को हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक लेना चाहिए और अपान के उच्चार से यह तात्पर्य है कि "हं" में से अनुस्वार को (बाह्य द्वादशान्त से) हृदय तक लेना चाहिए। अर्थात् जब हम बाहर से अन्दर सांस लेते हैं तो यह अनुस्वार पर समाप्त होती है और जब अन्दर से (हृदय से) बाहर (द्वादशान्त) सांस छोडते हैं तो यह विसर्ग (सः) पर समाप्त होती है। जब साधक इन उत्पत्ति (अर्थात् अन्तर हृदय द्वादशान्त) और विसर्ग (अर्थात् बाह्य द्वादशान्त) के प्रारम्भिक बिन्दुओं (Points) पर समाहित होके (with awareness) ध्यान लगाता है तो भैरव की भरिता स्थिति के कारण वह भैरव के साथ एकाकार हो जाता है। इस प्रकार 'सोहं' मन्त्र का आकस्मिक जाप विकास में आता है॥

यह साधना आणवोपाय के साथ सम्बद्ध है।

ऊर्ध्वे प्राणः—ऊपर अनुत्तर स्वरूप चिद्धाम से स्वयं विकसित होने वाले प्राण की स्थिति बाह्य द्वादशान्त तक।

अधः जीवः—नीचे बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक आने वाला 'जीव' नामक "अपान"।

विसर्गात्मा—अन्दर आना और बाहर जाना जिसका स्वभाव है। अर्थात् प्राणवृत्ति का यह स्वाभाविक व्यापार ही।

परोच्चरेत्—'परा' शक्ति का स्पन्दन अर्थात् उच्चारण है। तात्पर्य यह है कि परादेवी ही स्वयं प्राण और अपान के रूप में निरन्तर स्पन्दित होती रहती है।

उत्पत्ति—बाह्य और आन्तर विषय प्राण और अपान की उत्पत्ति।

द्वितयस्थाने—हृदय और द्वादशान्त में।

भरणात्—भैरव की शक्ति की भावना करने से (साधक में)।

भरिता स्थितिः—भरी पूरी अर्थात् स्वरूप लाभ की स्थितिः।

द्वादशान्त- जिस स्थान पर प्राण और अपान की गति जाकर रुक जाती है उसे द्वादशान्त कहते हैं

जीवः—अपान जीव उपाधि वाला है, इसे इसलिए जीव नाम से पुकारते हैं क्योकि पी गई, या खाई गई वस्तु को अपान वायु नीचे के मार्ग में ले जाती है।

मातृका क्रम के अनुसार ऊर्ध्वेप्राणः का तात्पर्य इस प्रकार है—

ऊर्ध्वे—सबसे पहले, **प्राणः**—सारे वाचक शब्दों का अनुप्राणक "अकार"

अधः-नीचे अर्थात् सारे वाचक शब्दों के अन्त में, *जीवः* - अर्थात् "सकार"

इस तरह से प्राण और जीव 'अकार से सकार तक के मातृका चक्र का संकेत करते हैं॥

मरुतोऽन्तर्बहिर्वाऽपि वियत् युग्मानिवर्तनात् ।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५॥

(*अन्वय*- हे भैरवि ! मरुतः अन्तः बहिः वापि (यत्) वियत् युग्मं (ततः) अनिवर्तनात् इत्थं भैरवस्य वपुः भैरव्या व्यज्यते॥)

हे भैरवि ! प्राण और अपान नामक वायु के आधार-स्थान आन्तर आकाश हृदय और बाह्य आकाश द्वादशान्त के प्रत्यावर्तन के अभाव में अपनी समाहित चित्त वृत्ति को केन्द्रित करने से ऐसी प्रतीति होती है मानों प्राण और अपान कहीं विलीन हो गये हैं। इस दशा के विकसित होने पर पराशक्ति भैरवी से अभिन्नरूप में विद्यमान भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

अन्तः बहिः–आन्तर या बाह्य रूप में

मरुतः–प्राण शक्ति के,

वियत् युग्म–दो आकाश अर्थात् हृदय आकाश और बाह्य द्वादशान्त।

अनिवर्तनात्–प्रत्यावृत्ति के अभाव में अन्तर्मुख वृत्ति में अवस्थित होने से ।

"अनुवर्तनात्" दूसरा पाठ है।

भैरव्या–अप्रतिहत समाहितता के द्वारा।

भैरवस्य–भैरव का

साधक अप्रतिहत समाहितता को हृदयाकाश और बाह्य द्वादशान्त के शून्य बिन्दुओं (two void points) पर साधे रखें।

इस धारणा में केवल अप्रतिहत समाहितता ही हर ओर क्रियाशील रहती है 'स' और 'ह' को बिना बोले। अतएव यह धारणा शाक्तोपाय के अन्तर्गत है आणवोपाय के अन्तर्गत नहीं। शाक्तोपाय का प्रधान अंग मानसिक साधना है। अतएव इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं। इस उपाय से बिना विशेष प्रयास के कुण्डलिनी जाग्रत होकर मूलाधार से ऊपर की ओर उठती है और स्वरूप लाभ से सम्पन्न कर देती है। इस धारणा में कोई दूसरा ग्राह्य नहीं है।

स्वामीजी महाराज ने 'वियत युग्म' का अर्थ (Gap) न कहकर दो शून्य बिन्दु (void points) किया है।

अर्थात् हृदयाकाश और बाह्य द्वादशान्त के शून्य बिन्दु।

हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक प्राणवायु बाहर की ओर संचार करता है और फिर से बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक भीतर चला जाता है। हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक 36 अंगुलों का संचार होता रहता है और बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक भी भीतर से 36 अंगुलों का संचार होता रहता है। इस बाहर और भीतर के प्राण संचार में हृदय के सन्धिस्थान में और बाह्य द्वादशान्त के सन्धिस्थान में योगी को सजग रहना चाहिए। इन्हीं दो सन्धियों में अनुसन्धान करने से भैरवी के साथ अभिन्न रूप में विद्यमान भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है।

इत्थं—इस प्रक्रिया के द्वारा

वपुः—स्वरूप, **भैरवस्य**—परम शिव का,

व्यज्यते—प्रकाशित होता है

भैरवि ! हे पार्वती ! यह आमन्त्रण पद अर्थात् सम्बोधन है।

न व्रजेत् न विशेत् शक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता॥ २६॥

(*अन्वय*-निर्विकल्पतया मध्ये विकासिते मरुत् रूपा शक्ति न व्रजेत् न विशेत्, तया भैरवरूपता॥)

विकल्पशान्ति रूप उपाय से जब सुषुम्नाधाम का विकास होता है तो न प्राणवायु हृदय से द्वादशान्त की ओर प्रस्थान करेगी ना ही अपान वायु द्वादशान्त से हृदय की ओर मुंह मोड़ेगी। इस प्रकार प्राणापान की गति के शान्त हो जाने से साधक साक्षात् भैरव स्वरूप ही हो जाता है। अर्थात् निर्विकल्प - अनुसन्धान के बल से ही मध्य विकास होने पर प्राणापान दोनों लय हो जाते हैं। तत्पश्चात् योगी भैरव रूपता को प्राप्त करता है। स्मरण रहे कि इस अवस्था का अनुभव करने के पश्चात् योगी को व्युत्थान दशा में अवतरित होकर भी शिवीभावात्मिका स्थिति का साम्राज्य बना ही रहता है। फलस्वरूप वह साधक जीवन्मुक्त ही कहलाया जाता है।

मध्ये - सुषुम्नाधाम अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग। मध्यधाम को सुषुम्ना कहते हैं। मेरुदण्ड (spinal cord) के भीतर से होकर ऊपर मस्तिष्क की ओर सुषुम्ना नाड़ी जाती है। मनुष्य में साधारण तौर पर प्राण और अपान शक्तियां ही क्रिया-शील रहती हैं। जब योग के अभ्यास से प्राण और अपान की धाराएँ समान बलवाली हो जाती हैं तब मध्य अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है। सुषुम्ना की दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाड़ी होती है। इड़ा बाईं ओर,

और पिंगला दाहिनी ओर सुषुम्ना नाड़ी की होती है। इड़ा को सूर्यनाड़ी और पिंगला को चन्द्रनाड़ी कहते हैं इड़ा में प्राण का प्रवाह और पिंगला में अपान का प्रवाह होता है। ये दोनों नाड़ियां धनुषाकार वत् टेढ़ी हैं। ये नासारन्ध्र तक गई हैं। सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला तीनों का आज्ञाचक्र के पास संयोग होता है जो कि "त्रिवेणी" कहलाता है।

शांभव दृष्टि से 'मध्य' सर्वव्यापी चित् है जो कि सबके भीतर की मध्यभूत सत्ता है। वह परमशिव की अहं चेतना है। शाक्तोपायकी दृष्टि से "मध्य" ज्ञान और क्रिया है। अर्थात् परासंविद् है जिसे प्राप्त करना है। आणवोपाय की दृष्टि से मध्य-मध्य नाड़ी है।

निर्विकल्पतया—विकल्प क्षय के कारण

विकासिते—एकाग्रता के स्थापित होने पर। यह विशेषण (Adjective) है 'मध्ये' का।

मरुद्रूपा—वायुरूप

शक्ति—प्राण और अपानात्मक शक्ति

न व्रजेत्—न तो हृदय से द्वादशान्त तक जायेगी

न विशेत्—न द्वादशान्त से हृदय की ओर प्रवेश करेगी।

तया—सुषुम्ना के विकास से

भैरवरूपता—भैरवरूप को योगी धारण करता है। शाम्भवोपाय साधना का इसमें संकेत है क्योंकि यहां निर्विकल्पभाव का उल्लेख है। यह शाक्तोपाय साधना की धारणा नहीं हो सकती है।

शाम्भवोपाय उन सिद्ध साधकों के लिए है जो शिव चेतना युक्त होते हैं। साधक पहले पंचकृत्य पर मनन करता है फिर विकल्प क्षय की साधना करता है और इस विचार पर मनन करने का अभ्यास करता है कि विश्व केवल चित् का प्रतिबिम्ब हैं अन्त में वह इन साधनाओं का भी त्याग कर शुद्ध स्वाभाविक अहं विमर्श को प्राप्त करता है।



।। ओं गुरवे नमः ।।

पारमार्थिक पथ के पथिक

सुश्री प्रभादेवी

परमार्थ को जितने सामान्य अर्थ में जनसाधारण ने समझा है, उतना सरल यह मार्ग नहीं है। प्रथम तो इस पथ के पथिक को स्वयं ज्ञात नहीं होता कि वह कैसे क्यों और क्या समझ कर इस पथ का पथिक बना है। शक्तिपात होने से वह बलजोरी इस मार्ग पर चलने लगता है। उपनिषद् के शब्दों में "यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः"—जिसे ही भगवान् वरण करेंगे—चाहेंगे वही इस पारमार्थिक सागर की थाह को पा लेता है। श्री अभिनवगुप्त जी भी कह गये—'न तु अत्र कोऽपि स्वात्मीय-पुरुषकारः सिद्धयति",

"सर्वेषाम नाऽत्र अधिकारः"—

जीवकृत पुरुषकार से यह मार्ग प्राप्य नहीं है और न ही सभी इस मार्ग के पथिक बनने का अधिकार रखते हैं। तुलसीदास जी भी कह गये—"सो जानहि जेऊ देहि जनाई"—भगवान् को वही जानते हैं, जिन पर वह कृपा करें। इस मार्ग में तो भगवत् शक्तिपात का होना ही ईप्सित है।

इस मार्ग के पथिक सभी जातियों में पाये जाते हैं—शक्तिपात तो निरर्गल है। प्रभु की कृपा जिस मानव पर हो जाये वही कृतकृत्य हो जाता है। इस विश्व में, वह रहते हुए भी किसी अन्य अलौकिक मस्ती में रहते हैं। उनका उठना, बैठना, चलना, फिरना, खाना, पहरना, बात करना, निराले ढंग का होता है। गीता जी के शब्दों में वे—तन्मय बुद्धि वाले, तन्मय आत्मा वाले, तन्मय निष्ठा (श्रद्धा) वाले और उसी परमात्मा में मन लगाने वाले, आत्म-ज्ञान से पापों को धो डालने वाले साधक होते हैं जो करामलकवत् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। बाह्यजगत् में वे अपनी भैरवीभाव की छाप अन्य लोगों पर भी डालते हैं, जिसके फलस्वरूप लोग उनके पीछे ही लग जाते हैं। उन्हें उनके संपर्क में अलौकिक आनन्द का अनुभव होने लगता है, वे उन्हें सन्त, महात्मा, परमहंस योगी आदि का नाम देकर, उन पर तन, मन, धन तक न्यौछावर करके अपने को भाग्यशाली समझते हैं। इतना ही नहीं वे चाहते हैं आजन्म इन पारमार्थिक पथिकों के संपर्क में रहें तभी हम मोक्ष की ओर अग्रसर होंगे। ऐसा होना भी शक्तिपात का ही फल होता है। तन्त्रों में कहा है—

"शक्तिपात वशाद् देवि ! नीयते सद्गुरुं प्रति।
दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते कर्मबासनाः ।।"

– हे पार्वती शक्तिपात से ही शिष्य बलजोरी परम गुरु के पास पहुंचाया जाता है, वह उसे परमज्ञान प्रदान करके, कर्मों की वासना समाप्त कर देते हैं। ऐसे महान योगी ही श्री गीता जी के शब्दों में 'स्थित-प्रज्ञ' कहलाते हैं–वे मन में ठहरे हुए सभी कामनाओं को त्याग देते हैं–उन से न्यारे हो जाते हैं। तब स्वयं ही अपने आप में तृप्त होकर दृढ़ प्रज्ञा वाले कहलाते हैं।

दुःख में उनका मन व्याकुल नहीं होता, सुख प्राप्ति की उन्हें कोई अभिलाषा नहीं रहती। राग, भय और क्रोध की भावना उनमें नहीं रहती। ऐसे मुनि स्थिर बुद्धि वाले कहलाते हैं।

वे हर प्रकार से स्नेह-रहित होकर बेलाग रहते हैं। भले-बुरे की न तो आवभगत करते हैं और न ही बुरे की अवहेलना करते हैं। उनकी बुद्धि दृढ़ होती है।

कछुआ जैसे अंगों को अपने में समेट लेता है, वैसे ही ये परमहंस इन्द्रियों के विषयों से, इन्द्रियों को पूरी तरह से समेट लेते हैं, तब वे स्थित-प्रज्ञ कहलाते हैं।

वे अपनी इन्द्रियों को मन की एकाग्रता से वश में करके योगस्थ होकर मुझ (परमात्मा) में टिक जाते हैं क्योंकि इन्द्रियां जिन के भी वश में होती हैं, उनकी ही प्रज्ञा स्थिर होती है।

इनके विपरीत-विषयों का ध्यान करने वाले व्यक्तियों का, उन विषयों से पहिले तो लगाव होता है। लगाव से इच्छा विषय-भोगने की उत्पन्न होती है। इच्छा में बाधा पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह–नास्तिकता का भाव उपजता है। संमोह होने से स्मरण ढीला पड़ता है। स्मरण के ठिकाने न रहने से, मत मारी जाती है। बुद्धि के नष्ट होने से वह कहीं का नहीं रहता।

इसके विपरीत आत्मवशी साधक राग और द्वेष से छूटी हुई, बस में की गई इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता हुआ, अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त करता है।

मन के निर्मल होने से इस योगी के सभी दुःखों का अन्त हो जाता है – प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही समाधि में पूरी तरह टिक जाती है।

सभी जीवों के लिए जो मायारूपी रात है, उस में स्थित-प्रज्ञ योगी सजग रहता है और जिस लोक-व्यवहाररूपी दिन में सभी लोग जागते रहते हैं वही तत्त्वदर्शी मुनि की रात है।

लबालब भरे जाने पर भी स्थिर रहने वाले समुद्र के भीतर जैसे जल के प्रवाह घुसते घुसते ही शान्त हो जाते हैं, वैसे ही जिस धैर्यवान साधक के भीतर सभी कामनायें उपजते उपजते ही शांत हो जाती हैं वही परम शांति को प्राप्त करते हैं। भोगों को चाहने वाले नहीं।

इसी स्थितप्रज्ञ दशा पर आसीन हमारे आराध्यदेव गुरु प्रवर थे। महाराज जी के, प्रति-कर्म में अलौकिकता की झलक प्रतिफलित होती थी। वे सदा कहा करते थे–''योगः कर्मसु कौशलम्'' – योग की साधना में जुट जाओ क्योंकि कर्मों को निभाने में अवधानात्मक चातुर्य ही योग है। महाराज जी का हृदय समय-समय पर अनेकों भावों से क्षणमात्र के लिए रंजित अवश्य होता था, किंतु तत्क्षण वे भाव पारमार्थिक ढंग में रंगे हुए अनुभव में आते थे। क्रोध, क्षमा, वात्सल्य, सहानुभूति, दया, शांति आदि सभी मनोभावों में अलौकिक पारमार्थिक पुट रहती थी। भक्तजन सतृष्ण नेत्रों से गुरुमहाराज को देखने में ही अपना कल्याण समझते थे। हमारी बुद्धि की समझ से बाहिर महाराज जी का सभी कार्यक्रम होता था। समय का सदुपयोग, नियत समय का पालन करना तथा मितभाषण महाराज जी के सराहनीय गुण थे। अभ्यास पर ताक लगाये रखने में वे अति प्रवीण थे। स्वप्न-संसार पर भी उनका आधिपत्य था। वे स्वप्न देखते देखते विज्ञानाकल दशा में प्रवेश कर जाते थे। यह अनुभव महाराज जी यदा-कदा दयालु बन कर सुना देते थे। मैंने एक बार अपनी बाल-सुलभ बुद्धि के अनुसार महाराज जी से पूछा–भला बात करते करते अभ्यास की ओर ध्यान कैसे रहेगा तो गुरुदेव ने सरल शब्दों में समझाया–जैसे किसी भी व्यक्ति को चलते फिरते, उठते बैठते या बोलते समय अपनी जेब में रक्खे हुए धन की ओर स्वभावतः ध्यान रहता है, उसी भांति सजग साधक को अपने विमर्श के प्रति ताक लगी रहती है। यह ताक लगाने की टेंव, अहर्निश अनुसन्धान करने से ही लगती है। अतः साधक को सदा विमर्श-परायण ही रहना चाहिये। व्यर्थ की झंझटों में पड़ने से यह सजगता पनपती नहीं है। इसमें राग, द्वेष, जुगुप्सा, ग्लानि आदि निन्दनीय भावों के आवरण आ जाते हैं, जिस से अभ्यास में शैथिल्य आ जाता है। शिथिलता आने से हम शिष्य बनने के अधिकारी नहीं कहला सकते। अतः हम गुरुमुख न होकर उससे कोसों दूर धकेले जाते हैं। सदा अपने अभ्यास में सजग रहकर यदि हम छोटी छोटी अवर बातों को पनपने न दें तो हम भी एक दिन परमार्थमार्ग के पथिक बन जायेंगे। तभी तो गुरु-प्रसाद के हम भागी बनेंगे और हमारा मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य सिद्ध होगा।



शैवदर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकंठ गुर्टू

शून्याभिमानी—आत्मा के वास्तविक स्वरूप के विषय में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की अलग-अलग मान्यताएँ रही हैं। स्थूल काया, प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक - इन पर वास्तविक आत्माभिमान रखने वाले लोग अपने-अपने दृष्टि-कोण के अनुसार इस विषय पर विचार करते थे। ऐसे दार्शनिकों में से कई लोगों का विचार था कि जड शरीर प्राण इत्यादि आत्मा नहीं हो सकते, अतः देह, प्राण इत्यादि विकल्पों के पूरे अभाव, जिसको शून्य कहते हैं, की दशा ही वास्तविक आत्मा है। उन विचारकों का शास्त्रीय नाम शून्याभिमानी और उनकी मान्यता का शास्त्रीय नाम शून्याभिमानिता है।

ज्ञानवैभव—शैवमान्यता के अनुसार अपने अंतस् में अपने वास्तविक चित्-रूप अर्थात् इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों के रूप वाले शक्ति त्रिशूल के निर्विराम रूप में चलते रहने वाले स्वाभाविक स्पंदन की अनुभूति होने को ज्ञान का अधिगम और विस्तार अर्थात् चतुर्दिक् प्रकाशमानता को ज्ञान का वैभव कहा जाता है।

अनुभूतचर्—ऐसे किसी भाव या पदार्थ को अनुभूतचर् कहा जाता है जिसका पूर्वकाल में अनुभव किया जा चुका हो और संप्रति केवल उसकी स्मृति अवशिष्ट हो। संस्कृत में चरट् प्रत्यय किसी पदार्थ की भूतकालीन वर्तमानता को अभिव्यक्त करता है।

घटगगन—गगन शब्द असीम शून्य आकाश का वाचक है। शून्याकाश अपने स्थान पर अखंड एवं असीम है। परन्तु शून्य मंडल को जब पोले या खोखले पदार्थों के अन्तर्वर्ती अलग-अलग आकार वाले एवं छोटे, बड़े, मझोले इत्यादि शून्यों की दृष्टि से देखा जाए तो असीम आकाश के संकुचित खंडों की कल्पना भी की जा सकती है। ऐसे संकुचित शून्य-आकाशों के नामकरण भी उन्हीं पदार्थों के साथ जोड़े जाते हैं, जैसे किसी घड़े के अंतर्वर्ती शून्य-अवकाश को घटाकाश या घटगगन कहते हैं।

उपचार—किसी पदार्थ पर ऐसे किसी धर्म को थोंपना जो उसका अपना स्वभाव न हो। इसको दूसरे शब्दों में आरोप या उपाधि भी कहते हैं। उदाहरणार्थ उपचार से परमेश्वर को जीव मानना, अखंड असीम आकाश को घटाकाश, महाकाश इत्यादि नाम देना उपचार कहलाता है।

वस्तुवृत्त—किसी भी अवस्था में अन्यथा न हो सकने वाले गुण या स्वभाव को वस्तुवृत्त कहा जाता है। हरेक पदार्थ का कोई-न-कोई निजी स्वभाव या गुण वस्तुवृत्त होता है। परमेश्वर परप्रमाता स्वयं स्वरूप पर ही उपचरित मायीय छायाओं के द्वारा स्वरूप को भिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हैं। वे सारे आकार-प्रकार वस्तुवृत्त न होकर संवृतिसत् होते हैं।

भ्रान्ति/ज्ञप्ति—वास्तविक चित्-स्वरूप आत्मा को वास्तविक आत्मा न जानने के रूपवाले अल्पज्ञान, जिसको दूसरे शब्दों में अन्यथाज्ञान, अख्याति इत्यादि नामों से भी अभिहित किया जाता है, भ्रान्ति या भ्रमज्ञान कहते हैं। परमात्मा जब अपनी ही स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से अपने अल्पज्ञान या उल्टे ज्ञान या भ्रान्ति को मलियामेट करते हैं तो अंतस् में जिस अखंड ज्योतिर्मयता का साम्राज्य उन्मेष में आता है उसको ज्ञप्ति कहते हैं।

विश्वपदार्थ—समस्त विश्व के अणु-अणु में व्यापक एवं सदा प्रकाशमान रहने वाले चित्-प्रकाश को विश्व-पदार्थ कहते हैं। छोटे, बड़े, ज्ञानी, अज्ञानी सारे प्राणियों की कायाओं में इसी विश्वपदार्थ का अंश जीवात्मा के रूप में निहित रहता है।

विपर्यासद्वय—दो प्रकार के मौलिक अज्ञानों को विपर्यासद्वय कहते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—(१) वास्तविक चैतन्यस्वरूप आत्मा पर अनात्म-अभिमान और (२) स्वरूप के ही विस्ताररूप शेष विश्व को स्वरूप से ही कतई भिन्न समझना।

समूल-निरास—मन में विद्यमान विपरीत भावनाओं को नियमित अभ्यासक्रम के अनुसार धीरे-धीरे इस प्रकार गलाते रहना कि मन से उन विपरीत भावनाओं के समेत उनके संस्कार भी पूर्णतया गल जाएँ। इसी क्रियाशीलता को समूल-निरास कहते हैं।

सामान्य—एक ही नाम-रूप वाले पदार्थों में समान रूप से वर्तमान रहने वाले एक और अनेकों से अनुगत धर्म को सामान्य अर्थात् जातिरूपता कहते हैं, पदार्थों का नाश होता रहता है परन्तु उनकी जाति का नाश नहीं होता है। उदाहरणार्थ—विश्वभर के घटों में व्यापक रहने वाला एक ही घटत्व (घटसामान्य) उनकी घटजाति का द्योतक होता है। अलग-अलग घट चाहे नष्ट भी हो जाएँ परन्तु घटत्व कभी नष्ट नहीं हो जाता है।

विशेष—जिस प्रकार सामान्य से जातिरूपता का अवबोध होता है उसी प्रकार विशेष से व्यक्तिरूपता का बोध हो जाता है। किसी पदार्थ की व्यक्तिरूपता में उस पदार्थ के गुण, अर्थ क्रियाकारिता और संज्ञा की सहकारिता रहती है। हरेक पदार्थ का यह विशेष रूप नश्वर होता है। विशेष घड़े टूट कर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु उनका सामान्य घटत्व अक्षुण्ण रहता है। स्मरण रहे कि परमशिव को छोड़कर अन्य सारे प्राणियों के कंधों पर यह सामान्य-विशेष का जूआ प्रति समय धरा रहता है। केवल परमपिता परमेश्वर ही इससे अतिक्रान्त हैं।

अपरामृष्ट—इच्छा, ज्ञान, एवं क्रिया— इन तीनों शक्ति मुखों के द्वारा जिस पदार्थ का परमर्श संभव न हो सके उसको अपरामृष्ट कहते हैं। उदाहरणार्थ—खरगोश के सींग, सांप के कान, बांझ का बेटा इत्यादि अपरामृष्ट पदार्थ हैं।

उल्लासन/विलापन—सृष्टि मुद्रा में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया— इन पाँच ईश्वरीय शक्तियों का स्वाभाविक विकास अर्थात् चित् से आनन्द, आनन्द से इच्छा, इच्छा से ज्ञान एवं ज्ञान से क्रिया का प्रसार एवं संहारमुद्रा में इसी के विलोम क्रम से क्रिया का ज्ञान में, ज्ञान का इच्छा में, इच्छा का आनन्द में और आनन्द का चित्ता में संहार करने की क्रियात्मकता को क्रमशः उल्लासन/विलापन कहते हैं।

लोष्ट स्थानीय—जिन पदार्थों में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का स्पन्दन न हो अर्थात् चैतन्यविहीन हों लोष्ट स्थानीय कहते जाते हैं। लोष्ट मिट्टी को कहते हैं।

ज्ञान/विज्ञान—बुद्धि-तत्त्व में किसी भी बाहरी पदार्थ के प्रतिसंक्रमण को उस पदार्थ का ज्ञान होना, और उपरान्त प्रयोगों के द्वारा उसी अधिगत ज्ञान को आत्मिक अनुभूति का विषय बनाने की प्रक्रिया को विज्ञान कहा जाता है।

पुनर्भव—दुबारा जन्म लेने को पुनर्भव (=पुनः— फिर, भव—जन्म लेना) कहते हैं। जब तक आत्मा आणव, मायीय एवं कार्म मलों से छुटकारा नहीं पा लेता है तब तक उसके पुनर्भवों का तांता लगा ही रहता है।

तीर्थान्तरकल्पित—इस पद के पहले 'तीर्थ' – इस खंड से किसी पवित्र तीर्थ का नहीं प्रत्युत किसी दार्शनिक का अभिप्राय है। फलतः इस शब्द के 'तीर्थ+अंतर+कल्पित'—इन खंडों से 'किसी दूसरे दार्शनिक के द्वारा कल्पित होने का' अभिप्राय है।

विग्रहयोग—पाञ्चभौतिक काया में बने रहने को विग्रहयोग कहते हैं। विग्रह शब्द से स्थूल काया का अभिप्राय है।

प्ररोहासमर्थ—ऐसा बीज जिसमें किसी कारण से अंकुरित होने की शक्ति न रही हो।

वितत—जिसकी व्यापकता में कोई 'देश की सीमा' इत्यादि का अवरोध न हो।



प्रणामाञ्जलिः

दिवंगत श्री जानकीनाथ कौल 'कमल'

लाल'सा'ब'लसत्कायलक्ष्मण प्रियदर्शन।
ऐश्वर्यरूप-चिद्रूप चरणौ ते नमाम्यऽहम्॥ १॥

सप्तषष्ट्यसुसाहस्त्रे कन्यागत चतुर्थ्यां नु।
दिल्ल्यां वै भारते प्रातः शिवीभूताय ते नमः॥ २॥

चन्द्रमौलिचमत्कारचर्वणानन्ददायिने।
मातृभक्तिसुबोधाय आदर्शसूनवे नमः॥ ३॥

नैष्ठिकाय निलीनाय नित्यबोध प्रबोधिने।
नारायणानन्ददाय आत्मज्ञाय च ते नमः॥ ४॥

कश्मीरे कृतवासाय काश्मीरजप्रियाय च।
अश्मवारिज-दिव्याय प्रणामाञ्जलयो मम॥ ५॥

इश्बेर आश्रमस्थाय हृदयस्थाय भानवे।
वरदाय वरिष्ठाय चरणौ ते नमाम्यऽहम्॥ ६॥

शैवशास्त्रविचाराय शिवशक्त्यैकरूपिणे।
शास्त्रसाराय पाराय चरणौ ते नमाम्यऽहम्॥ ७॥

विकल्पशान्तवृत्ताय संवित्साम्राज्यदायिने।
कौलिकदेशिकेन्द्राय चरणौ ते नमाम्यऽहम्॥ ८॥

गुरुराजे च रम्याय शिवलक्ष्मणरूपिणे।
शुभलक्षणलक्ष्याय लक्ष्मणाय तु ते नमः॥ ९॥

शारिकाहृद-जुष्टाय प्रभयापरिपूजिते।
गुरुवर्याय वन्द्याय वरेण्याय च ते नमः॥ १०॥

लक्ष्मणाय सुलक्ष्याय शुभलक्षणशालिने।
लक्ष्यालक्ष्यविहीनाय सर्वलक्ष्याय ते नमः॥ ११॥

स्वभक्तैर्हृदिपूज्याय विरक्तवरधारिणे।
सर्वलोकार्तिहाराय विकारविद्विषे नमः॥ १२॥

आचार्याचार्यवर्याय शैवशास्त्रस्वरूपिणे।
काश्मीर-शैव-साराय चरणौ ते नमाम्यऽहम्।। १३।।

सर्वधर्मधुरीणाय धीगुणानतिवर्तिने।
धीर-वीर-दयाद्राय चरणौ ते नमाम्यऽहम्।। १४।।

आराध्यायाविकाराय देवादेवदवीयसे।
दुर्निरीक्ष्याय दिव्याय धर्मवीराय ते नमः।। १५।।

विद्याधराय वीराय वीरपानमदान्विते।
सारदाय स्निग्धाय शोभनाय च ते नमः।। १६।।

कायक्लेशोर्ध्वकाराय कायवर्जितकाभिने।
सर्वकारकवर्याय प्रणामाञ्जलयो मम।। १७।।

साक्षात्कारमृगाङ्काय साक्षरूपाय सूरये।
वह्नितप्तप्रचण्डाय प्रणामाञ्जलयो मम।। १८।।

शरणाय शरण्याय घोरसंसारहारिणे।
सोमसूर्यमरीच्याग्रगम्यदेवाय ते नमः।। १९।।

चर्मदृष्टितिरस्कर्तृमर्मदृष्टि शिवात्मने।
सर्वदृष्टिसुयुक्ताय देवदेवाय ते नमः।। २०।।

शारिकाया शरण्याय प्रभयाद्वैतवर्द्धिने।
शिष्यवृन्दशिरच्छत्ररूपिणे स्वामिने नमः।। २१।।

उपायवनचैत्राय शिवाय शिवयोगिनाम्।
भवीनां कल्पवृक्षाय हृद्गुहाशायिने नमः।। २२।।

विशुद्धभक्तिवृद्धाय ज्ञानोन्मेषप्रपूरिते।
क्रियाविशेषबहुलज्ञानगम्याय ते नमः।। २३।।

प्रपन्नजनवेद्याय प्रस्फुटाय चिदात्मने।
निरालम्बाय नित्याय सूक्ष्मरूपाय ते नमः।। २४।।

आद्यन्तहीनतत्त्वाय स्वात्मविश्रान्तिहेतवे।
नरविग्रहरूपाय नरसिंहाय ते नमः।। २५।।

प्रकृत्या-मन्त्ररूपाय हासव्यङ्गविधायिने।
बाललीलाविलासाय गम्भीराय च ते नमः॥ २६॥

कृतकृत्याय कान्ताय कृताकृतविवर्जिते।
कर्माकर्मविलीनाय क्रियाधीराय ते नमः॥ २७॥

विश्ववन्द्याय विश्वाय विश्वोत्तीर्णस्वरूपिणे।
विरूपाय सुरूपाय चित्ररूपाय ते नमः॥ २८॥

शिव-शंकर-शर्वाय भूतभाविविभाविने।
भारूपाय ज्ञरूपाय प्रज्ञापाराय ते नमः॥ २९॥

कथं वर्णामहे तुभ्यं कथं वन्दामहे विभुम्।
कथं स्मरामहे देवं बत तुभ्यं नमो नमः॥ ३०॥ *



त्रिकदर्शन में भैरव

प्रो. मखनलाल कुकिलू

हमारी भारतीय संस्कृति का भव्य महल वेद, स्मृति, पुराण और आगम नामक चार स्तंभों पर चिरप्रतिष्ठित है। वेदों में वर्णित आचारों के पालने करने की व्यवस्था सत्ययुग के तपस्वी व यशस्वी ऋषियों और मुनियों में बहुप्रचलित थी। त्रेता युग में स्मृतियों में निर्दिष्ट आचारों को ही ग्राह्य माना गया। द्वापर युग में पुराणों में कहे गए आचारों का पालन अनुष्ठेय समझा गया। वर्तमान कलियुग में वेद, स्मृति और पुराणों के आचारों की अपेक्षा, मनुष्य की रुचि में बदलाव आने से, आगमों में प्रतिपादित आचारों को युगानुकूल व्याख्या से सजाकर इस युग के लिए अनुकूल माना गया। आज के वैज्ञानिक वातावरण में पले मानव

* (अपरोक्त "प्रणामाञ्जलिः" दिवंगत आचार्य जानकी नाथ कौल 'कमल' ने सद्गुरु महाराज ईश्वर स्वरूप लक्ष्मणजी महाराज की जन्म जयंन्ती पर प्रकाशित करने के लिए नौ दस मासों से पूर्व मुझे भेजी थी। शायद उन्हें इस बात का आभास पहले से ही हुआ था कि वे सद्गुरु जयन्ती पर परलोक वासी होंगे अतः बहुत समय पहले उन्होंने अपने ये हृदय के उद्गार 'प्रणामाञ्जलिः के रूप में अभिव्यक्त किये थे। सद्गुरु महाराज इनका उद्धार करें।)

के लिए वही आचार संहिता उपादेय है जो उसकी आकांक्षाओं व अभिलाषाओं के अनुरूप हो और जो दुर्गम जीवन पथ को सुकर बनाने में सहायक हो। आगम ग्रंथों में ऐसी ही आचार-संहिता का उल्लेख है जो आजकल के भोग प्रधान जीवन को मोक्ष प्रधान बनाने के लिए रामबाण है। सामाजिकता का पुट भी जितना आगमदर्शन में है उतना अन्यत्र नहीं।

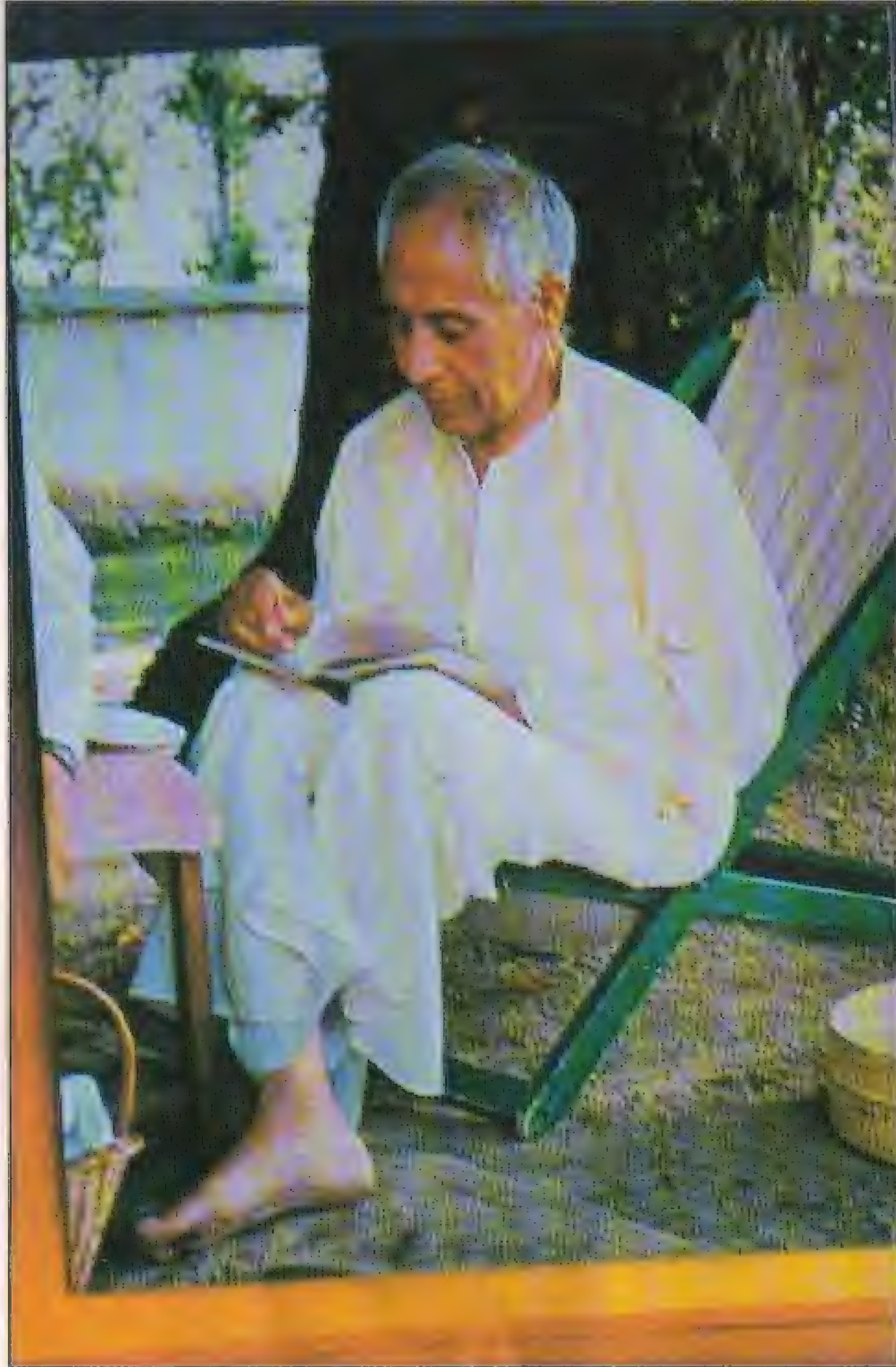
आगम मुख्य रूप से तीन हैं। शैव-आगम, शाक्त-आगम और वैष्णव-आगम। इन आगमों का प्रादुर्भाव या विकास भैरव-भैरवी संवाद, शिव-पार्वती संवाद या गुरु-शिष्य संवाद के रूप में हुआ है। आगम की परिभाषा इस प्रकार है–'आ-ईषत्-अंशतो, गमः-बोधो यस्मात् स आगमः' अर्थात् जो वेद-त्रयी के कर्म, उपासना का ही ज्ञान कराए वह आगम है। 'सर्वतंत्र सिद्धांत पदार्थ लक्षणसंग्रह' में आगम की व्याख्या इस प्रकार है–

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

अर्थात् परभैरव के मुखकमल से प्रकट होकर गिरिजा (पार्वती) के कानों में जाने से और वासुदेव का मत-निश्चय होने से आगम कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि गिरिजा को परभैरव ने जो तंत्रशास्त्र का उपदेश दिया वही आगम है, एवं कहीं-कहीं गिरिजा भैरवीरूपों में श्रोत्री बनती है तथा परभैरव वक्ता, तो कहीं-कहीं परभैरव श्रोता बनते हैं और गिरिजा वक्त्री। वक्ता और श्रोता के भेद से इस तरह शैवागम और शाक्त आगम का आविर्भाव हुआ। शैवशास्त्र के केसरी कश्मीरवासी आचार्य अभिनवगुप्त भी इस विषय में कहते हैं कि 'आगमस्तु अनवच्छिन्न महेश्वर प्रकाश परमार्थ' अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रामाण्य अवच्छिन्न (संकुचित) है पर आगम का प्रामाण्य अनवच्छिन्न है, क्योंकि परप्रमाता की विमर्शशक्ति ही तो आगम है। अतः आगम स्वतंत्र है। त्रिकदर्शन के अनुसार 'आगम' के 'आ' से पाश, 'ग' से पशु, और 'म' से 'पति', अथवा 'आ' से शिवज्ञान, 'ग' से मोक्ष और 'म' से 'पति' अभिप्रेत है। इससे प्रत्येक वस्तु शासित और सुरक्षित होती है अतः इसे (आगम को) शास्त्र कहते हैं। यह आगम शास्त्र ज्ञान है। इसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है। यह तंत्र है क्योंकि इसकी सहायता से प्रत्येक वस्तु सुरक्षित और स्थिरीकृत है अथवा तत्त्व और मंत्र संबंधी ढ़ेर सारे अर्थों का विस्तार करने से भी यह तंत्र है। मनुष्यों की रक्षा (त्राण) करने के हेतु भी यह तंत्र है। ये तंत्र द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत इन तीन भागों में प्रकट हुए हैं। द्वैत तंत्रों को शिवतंत्र, द्वैताद्वैत तंत्रों को रुद्रतंत्र और अद्वैत तंत्रों को भैरवतंत्र कहते हैं।

भेद प्रधान द्वैत तंत्रों की संख्या दस है, भेदाभेदप्रधान द्वैताद्वैत तंत्रों की संख्या अठारह है और अभेद प्रधान अद्वैत तंत्रों की संख्या चौंसठ है। कुल मिलाकर ये बयानवे तंत्र हैं। ईशान, तत्पुरुष, अघोर वामदेव और सद्योजात ये स्वच्छन्द भैरव के पांचमुख हैं। इन्हीं पांच

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

मुखों से बयानवे तंत्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। ये ही पांच मुख स्वच्छन्दभैरव की चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप पांच शक्तियां हैं। अभेद प्रधान चौंसठ भैरवतंत्रों की उत्पत्ति, ईशान, तत्पुरुष आदि पांच मुखों का भैरवरूपता के साथ समावेश होने से हुई है। इनका आविर्भाव आठ अष्टकों (8x8=64) में हुआ है। ये आठ अष्टक आठ भिन्न-भिन्न भैरवों ने प्रवर्तन में लाए हैं। इनके नाम हैं–बहुरूपभैरव, यामलभैरव, चण्डभैरव, क्रोधभैरव, आसिताङ्गभैरव, रुरुभैरव, कपालेशभैरव और उन्मत्तभैरव।

इन सभी अष्टकतंत्रों को सादाशिवचक्र भी कहते हैं। बारीकी से देखा जाए तो उपरोक्त सभी बयानवे तंत्र 'त्रिकदर्शन' के मूलाधार हैं क्योंकि भेदरूपतंत्रों में नररूपता, भेदाभेद प्रधानतंत्रों में शक्तिरूपता और अभेदरूप तंत्रों में शिवरूपता का दिग्दर्शन किया गया है। त्रिकदर्शन की भी यही परिभाषा है कि 'नरशक्ति शिवात्मकं त्रिकम्' अर्थात् जिसमें नररूपता शक्तिरूपता और शिवरूपता का मेल हो वही 'त्रिक' है। कहा भी है कि–

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यत् शासनं विभोः।
तत्सारं त्रिकशास्त्रम्।

अर्थात् दस, अठारह और चौंसठ तंत्रों में जो परमेश्वर-शास्त्र विभक्त हुआ है, उन सभी शास्त्रों का सार त्रिकशास्त्र है। त्रिकशास्त्र या त्रिकदर्शन का ही दूसरा नाम आचार्यों ने भैरव-शास्त्र रखा है। यह भैरव शास्त्र ज्ञान या विद्या, योग, चर्या, और क्रिया पाद से पूर्ण है।

अपने सद्गुरुमहाराज ईश्वरस्वरूप श्री लक्ष्मण जी से प्राप्त ज्ञान के आधार पर इन पाँच मुखों का रहस्यात्मक विवरण इस प्रकार है–

श्री स्वच्छन्दभैरव का पहिला मुख 'ईशान' जो है वह ऊर्ध्वमुख है। शास्त्रों में निर्देश है कि 'ऊर्ध्व' प्रकाश का प्रतीक है क्योंकि उनका परमस्वरूप प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इसीलिए 'ईशान' सबसे ऊपर है। श्रीस्वच्छन्दभैरव का दूसरा मुख 'तत्पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्पुरुषवक्त्र (मुख) पूर्वमुख है, क्योंकि पूर्व-दिशा में प्रकाशोन्मुखता सदा विद्यमान है।

श्री स्वच्छन्दभैरव का तीसरा मुख 'अघोर' है। यह अघोर (जो घोर भयानक नहीं है) वक्त्र दक्षिण दिशा में है। क्योंकि सब ओर फैले हुए प्रकाश की अनुकूलता दक्षिण दिशा में है। श्री स्वच्छन्दभैरव का चौथा मुख 'वामदेव' है। यह वामदेव वक्त्र उत्तर दिशा में है। 'सोमं मेयं प्रचक्षते' इस शास्त्र कथन के आधार पर मेयरूप सोम (चंद्रमा) का संबंध उत्तर दिशा से है और वामदेव वक्त्र भी मेयाभिमुखीन माना जाता है।

श्री स्वच्छन्दभैरव का पांचवा मुख 'सद्योजात' है। यह सद्योजात वक्त्र (मुख) प्रकाश विमुख रहने से पश्चिम दिशा की ओर स्थित है। स्वच्छन्दभैरव के चित्र में चित्रित पांच मुखों का रहस्य इसी रूप में समझना चाहिए।

इसी प्रसंग में यहां यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि ईशान भैरव तुरीयातीत है तत्पुरुष तुर्य है अघोर भैरव संहार प्रधान है, वामदेव सृष्टि प्रधान और सद्योजात स्थिति प्रधान है। स्वच्छन्दभैरव के पञ्चकृत्यों अनुग्रह, निग्रह, संहार, सृष्टि और स्थिति का संबंध भी इन्हीं पांच भैरवों से है। पंचभूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का संबंध भी स्वच्छन्दभैरव के इन्हीं पांचमुखों के साथ आरोह क्रम में समझना चाहिए अर्थात् ईशान का संबंध आकाश तत्त्व के साथ, तत्पुरुष का वायु, अघोर भैरव का तेज, वामदेव भैरव का जल और सद्योजात भैरव का पृथ्वीतत्त्व के साथ समझना चाहिए।

इसी प्रकार साधक को अपने अंगों में भी स्वच्छन्दभैरव के इन्हीं पांच स्वरूपों का समावेश करना चाहिए। अर्थात् 'ईशान भैरव' को मूर्धा में (सिर में) तत्पुरुष को मुख में, अघोरभैरव को हृदय में वामदेव को गुह्य स्थान में, और सद्योजात को सारे शरीर में। ईशान भैरव को मूर्धा (सिर) में समावेश करने का अभिप्राय यह है कि जैसे नर शरीर में मूर्धा का स्थान सर्वोपरि है, इसी प्रकार ईशानमूर्ति सर्वोपरि है। तत्पुरुष को मुख में अधिष्ठित होने का तात्पर्य यह है कि देव, नर आदि तत् तत् (उन-उन) पुरुषों में अधिष्ठित होने से यह जन्ममरण भय से रक्षा कर और ज्ञान व क्रिया आविर्भावक है। यही बात आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वर सिद्धि ग्रंथ में कही है–

'व्यनक्ति ज्ञान क्रिये, त्रायते जन्मादि भयात् तत् तत्पुरुषवक्त्रम्।' अघोर को हृदय में समावेश करने का तात्पर्य यह है कि हृदय का अर्थ बोध है। संवित् बोध (Supreme consciousness) जिससे हो, वही हृदय है। हृदय का 'हृदि अयोगमनं ज्ञानम्' अर्थ करने पर इसके अर्थ की सीमा का विस्तार होता है। यह अंतः स्पन्दन (Vibration) भी है और बहिःस्पंदन भी है। इन दोनों स्पंदनों का उत्पत्ति स्थान और विश्रान्ति स्थान संवित्भाव ही है। इसी को शैव शास्त्रों में हृदय का नाम दिया है। हृदय में 'हृत्' विश्वोत्तीर्णता और 'अय' विश्वमयता का सूचक है। अतः 'अघोर-हृदयाय नमः' कहकर अघोर भैरव की विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता की ओर संकेत है।

'वामदेवगुह्याय नमः' का तात्पर्य है कि 'वामदेव' का गुह्यस्थान (मूलाधार) में समावेश करके कुंडलिनी का उत्थान षट्चक्रभेदन द्वारा करना चाहिए। असंख्य जीवों के वासनाजाल भी अनेक प्रकार के हैं। इन्हीं वासनाओं के अनुसार कार्ममल से ग्रस्त प्राणी

धर्म, अर्थ और काम के द्वारा अतिलुब्ध होकर, इसी वामदेव भैरव से निचले-निचले प्रदेशों में धकेले जाते हैं। 'नीचे धकेलना' भी 'वाम' शब्द का एक अर्थ है। पर इनका यह वास्तविक रूप अज्ञानीजनों को 'गुह्य' रहता है अतएव इस प्रकार का मंत्रन्यास अर्थात् **'वामदेव गुह्याय नमः'** किया जाता है।

संतों, योगियों और साधकों के समक्ष अपने-अपने भाव के अनुसार सौम्यमूर्ति स्वच्छन्दभैरव जब-जब प्रकट होते हैं तो उस समय उनकी सद्योजात मूर्ति का ही अंगों में समावेश होता है। अतएव **'सद्योजात मूर्तये नमः'** का प्रयोग होता है।

सीमित ज्ञान वाले साधक प्रायः भैरव शब्द के सुनने से ही भयभीत होते हैं क्योंकि उन्हें भैरव शब्द की वास्तविकता का ज्ञान नहीं के बराबर होता है। हमारी कश्मीरी भाषा में भी यदि कहीं 'भैरव' शब्द का प्रयोग होता है तो श्रोता के मन में किसी भयानक आकृतिधारी का बोध होता है। जैसे–**'भ'रव ह्यु'य छुख भासान'** भैरव जैसा दिखते हो। पर हमें अपने मन में इस भ्रांति को सर्वथा मिटाना चाहिए कि भैरव जैसा सौम्य मूर्ति से शोभित कोई संसार में नहीं। स्वच्छन्दतंत्र में भैरव की व्याख्या इस प्रकार की गई है–

नील हर्षादिभेदेन यत् बाह्याभ्यन्तरं जगत्।
अहं इत्यामृशन् पूर्णो भैरवः समुदाहृतः॥

अर्थात् आंख आदि बाहिरी इंद्रियों और मन बुद्धि अहंकारात्मक आंतरिक इंद्रियों से जो घट-पट आदि जगत के विभिन्न पदार्थों का तथा सुख, दुःख, राग, मोह आदि का ज्ञान होता है, उसे अहं परामर्श में रंगने वाला अर्थात् नील जगत् घटा पटादि शिवरूप है और हर्ष-सुख दुःखादि रूप जगत् भी शिवरूप ही है इस समरसता को जतलाने वाला, भैरव नाम से पुकारा जाता है।

श्री रुद्रयामल तंत्र में भैरव को चौंसठ तंत्रों का समन्वित सौम्यरूप माना है और पराशक्ति भैरवी को उस सौम्य रूपधारी भैरव की वाहिका शक्ति माना है।

श्रीकुलार्णवतंत्र में कहा है कि भैरव अपनी सौम्यमूर्ति से हृदय की ग्रंथि को खोलता है, सारे संशयों को मिटाता है, तथा प्राचीन कर्मफल भोग को नष्ट करता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में 'भैरव' की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

भीरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवारुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः।
भीरं वायति यः स्वयोगिनिवहस्तस्य प्रभुर्भैरवो
विश्वस्मिन् भरणादि कृत् विजयते विज्ञानरूपः परः॥

अर्थात् डरपोकों को भयरहित बनाने वाले, संसार के भय को दूर हटाने में कारणभूत, अपने भक्तों के हृदय में सदा रहने वाले, अपने अंगों की कांति और शब्द से भय उत्पन्न करने वाले, महाकाल का भी अंत करने वाले, सारे लोगों के स्वामी, कष्ट में पड़े हुए अपने उपासक योगियों के समूह की रक्षा करने वाले, विज्ञानस्वरूप भैरव पालनपोषण आदि कर्म करते हुए संसार में सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।

वेदों में 'चित्' एवं 'आनंद' शब्दों द्वारा जिसके स्वरूप की ओर संकेत किया गया है, वही त्रिकदर्शन में भैरव नाम से पुकारा गया है। चिति, परा संवित् पराहन्ता आदि शब्दों से उसी के शुद्ध प्रकाश की ओर संकेत किया गया है। उसी को वेदों में रुद्र की संज्ञा दी गई है जिसका सौम्यरूप यह कहकर स्पष्ट किया गया है–

'या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपाप काशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥'

हे रुद्र देव! आपका जो कल्याणकारी अघोर अर्थात् सुंदर पुण्यफल को प्रकाशित करने वाला शरीर है उसी कल्याणकारी शरीर से मेरी ओर देखो।

परभैरव की दुर्धर्ष ज्वाला से प्रकट बने हुए परभैरव के ही अंशभूत **श्री वटुक-भैरव**– जिसने कश्मीर वासियों की शिवरात्रि पूजा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है और जिसके नाम से कश्मीर के सारे बच्चे, युवा और बूढ़े चिरपरिचित हैं, का ध्यान भी अतीव आकर्षक और मनोहर है। यह बाल-भैरव स्फटिकतुल्य है, घुंघराले बालों से इसका मुख सुंदर बना है, दिव्य नवमणियों से सुशोभित करधनी और पायलों से रमणीय बना है, प्रज्ज्वलित आकार वाला है, तीनों भुवनों में पूजनीय है, लाल वस्त्रों को धारण करने वाला और अपने कमल जैसे सुंदर छोटे-छोटे हाथों में त्रिशूल और दंड लिए हुए है।

वन्दे बालं स्फटिक सदृशं कुन्तलाभासि वक्त्रम्,
दिव्याकल्पैर्नव मणिमयैः किंकिणी नूपुराढयम्।
दीप्ताकारं त्रिभुवन नतं रक्तवस्त्रं त्रिनेत्रं,
हस्ताब्जाभ्यां वटुकमनिशं शूलदण्डौ दद्यानम्॥

कैसी सौम्यमूर्ति इस भैरव की है कि मात्र पढ़ने से ही प्राणी मंत्रमुग्ध-सा होता है। इस वटुक-भैरव के सात्त्विक, राजस और तामस तीनों रूपों का वर्णन 'शारदातिलक' नामक तंत्र में विशद रूप से किया गया है। सात्त्विक रूप साधना से यह आयु, स्वास्थ्य और मोक्ष देने वाला है। राजस रूप साधना से भूत ग्रहादि द्वारा शत्रु का शमन करता है। इस प्रकार तीनों रूपों में यह भैरव कल्याणकारी है। त्रिकदर्शन में वटुकभैरव को आचार्य अभिनवगुप्त

ने अपान वायु की संज्ञा दी है। वे कहते हैं कि मैं उस अपाननाम वाले वटुक-भैरव को प्रणाम करता हूं जो अपने भक्तों की पीड़ा मिटाते हैं और जिसके प्रकाश विमर्शरूप दोनों चरणों की पूजा, सिद्ध पुरुषों ने, उत्तम वीरों ने और योनियों ने की है।

वरवीर योगिनी गण सिद्धावलि पूजितांघ्रियुगलम्।
अपहृत विनयि जनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे॥

आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने 'देहस्थ देवता चक्र' नामक स्तोत्र में भैरव की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सारी इंद्रिय वृत्तियां अपने-अपने शब्द स्पर्श रूपादि भोगों से भैरव नाथ को हृदयकमल में सदा पूजती हैं, यहां तक कि ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुंडा, नारसिंही या महालक्ष्मी नामक आठ मातृका शक्तियां भी अपनी-अपनी दिशाओं में विराजमान रहकर चिद्रूप आनंद भैरव की निरंतर अर्चना करती है। इस भैरव रूप अपने ही स्वरूप को प्रकट करने के लिए स्वरूपसंवित् के विमर्श में सदा उद्यत रहना चाहिए। कश्मीरवासी आचार्य दिवाकर भट्ट के सुपुत्र श्री भास्कर भट्ट रचित 'शिवसूत्रवार्तिक' में उन्होंने भैरव शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है–

भरणात् रमणादत्र वमनादपि चोच्यते।
अखण्डित निजाभास प्रथनात् अपि चिद्विभोः॥

अर्थात् 'भैरव' के तीन वर्णों में 'भ' 'र' 'व' में से 'भ' का तात्पर्य भरणात्–धारण करने से तथा पुष्टि करने से, 'र' का तात्पर्य है रमणात्–अंदर बाहिर आने से (सृष्टि-संहार से–त्रिकदर्शन के अनुसार सृष्टि का अर्थ है अंदर विद्यमान जगत को बाहर लाना, संहार का अर्थर है बाहर दीखने वाले सारे जगत को फिर अंदर लेना) 'व' का अर्थ है–वमनात् अर्थात् वमन करने से भैरव की भैरवता है।

सारांश यह है कि अपनी परमेश्वरता के बहिर्मुख उन्मेष से भैरव संसार की रचना करता हुआ उसका वमन करता है, जगत को ठहराता हुआ उसका भरण करता है और सृष्टि संहार आदि के द्वारा अपनी पारमेश्वरी शक्ति के साथ तथा उसी के बहिर्मुखी विकास रूप इस जगत के साथ भी सदा रमण करता रहता है अतः वह भरण रमण और वमन करता हुआ 'भैरव' कहलाता है। शिवसूत्र में भी आचार्य वसुगुप्त ने कहा है कि **'उद्यमो भैरवः'** अर्थात् शाम्भवोपायरूप इच्छाशक्ति का तीव्र प्रयोगात्मक उद्यम (उद्योग) साधक की भैरवता को चमका देता है।

त्रिकदर्शन के अनुसार इस तरह परमेश्वर का बहिर्मुख उन्मेष भी भैरव है और साधक के द्वारा स्वरूप स्थिति की ओर किया गया इच्छाशक्ति का प्रयोग भी भैरव कहलाता है।

त्रिकशास्त्र की क्रमशाखा के प्रवर्तक श्री शिवानंदनाथ ने लिखा है कि–**'भैरवरूपी कालः सृजति जगद् कारणादि कीटान्तम्'**

अर्थात् काल भी भैरव रूप को पाकर ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त (कीड़े-मकोड़े तक) सारे स्थावर जंगम संसार की उत्पत्ति करता है।

'तंत्रालोक' के प्रथम आह्निक में भैरव को द्वादशारमहाचक्र का नायक कहा है क्योंकि उसी भैरव की परा, परापरा, अपरा नामक तीन शक्तियां सृष्टि स्थिति, लय और तुर्यदशा में सर्वसर्वात्मकरूप से बारह प्रकार से प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार त्रिक दर्शन ने मुक्त कंठ से भैरव की महानता की प्रशंसा की है। इसे संसार भीरुहितकृत् अर्थात् भय के कारण भूत संसार में अभय देकर कल्याण करने वाला, अथवा संसार से विमुखता प्रदान करने वाला कहा गया है। इसे सूर्यचंद्रादि नक्षत्रों को प्रेरित करने वाले काल के स्वरूप को निगलने वाला और समाधिनिष्ठ योगियों का स्वामी भी कहा है।

अपनी छोटी-सी पुस्तिका 'पर्यन्त पञ्चाशिका' में आचार्यपाद अभिनवगुप्त ने भैरव की व्याख्या करते हुए भैरव को त्रिकदर्शन का आराध्य माना है तथा अन्य देवताओं से थोड़ी मात्रा में उसे भिन्न कहा है। वह सद् असद् उभयरूप है। भैरवावस्था में कलाध्वा, तत्वाध्वा, भुवनाध्वा, वर्णाध्वा, पदाध्वा और मन्त्राध्वा नामक वाच्यवाचक रूप सृष्टि अपने अस्तित्व को उसी में समेटे हुई है। विमर्शशक्ति को, जो चैतन्य का ही रूप है, जिसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया सम्मिलित हैं, इस भैरव का हृदय कहा गया है। कुछ भी उससे भिन्न नहीं माना जाता। अपनी इच्छा शक्ति के बल पर वह अनाश्रित शिव से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक प्रत्येक रूप में प्रकट होता है। निश्चय से यह समझना कि 'मैं भैरव हूं और सारा विश्व मेरा ही रूप है, मेरा ही विकास है। यह मुझसे इसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार पावक से उसकी दाहिका शक्ति और भास्कर से उसकी प्रभाशक्ति अवियुक्त है। मैं ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप में दिखता हूं। सारा शक्तिचक्र मेरा ही विस्तार है। मैं ही बंधन और मोक्ष के लिए जिम्मेवार हूं। मैं विश्वात्मक भी हूं और विश्वोत्तीर्ण भी हूं।'

त्रिकदर्शन में भैरव की मान्यता पर विहंगावलोकन करके मैं अपने सद्गुरु ईश्वरस्वरूप लक्ष्मणजी महाराज के उपदेशामृत का पान कराने के लिए संसार सागर से मुक्त होने वाले साधकों को निमंत्रित करता हूं कि वे रातदिन समाहित होके केवल उनके इस मूलमंत्र का ही मनन करें–

अकलितमहिमोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्
भैरवोऽहं शिवोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्॥